।। श्रीमते रामानुजाय नमः।।

वैदिक-वाणी

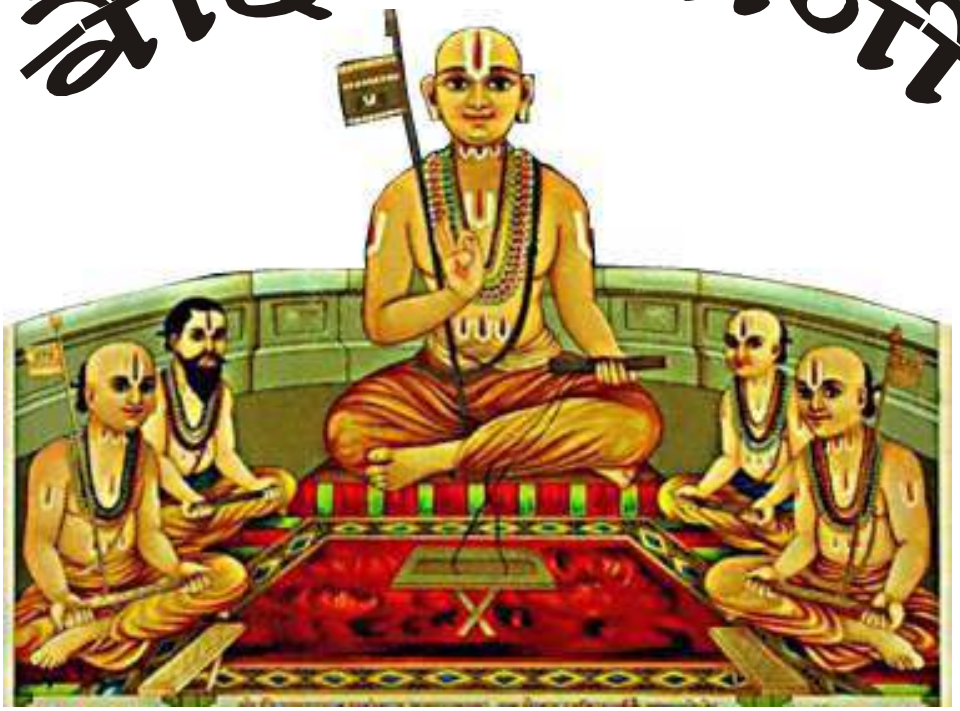

वर्ष- २५ सन्- २०१२ ई०	श्री पराङ्कुश संस्कृत संस्कृति संरक्षा परिषद् हुलासगंज, जहानाबाद (बिहार)	अंक- ३ रामानुजाब्द ९९६ त्रैमासिक प्रकाशन

निवासशय्यासनपादुकांशुकोपधानवर्षातपवारणादिभिः ।
शरीर भेदैस्तव शेषतां गतैः यथोचितं शेष इतीर्यते जनैः ।।

अर्थात् वे शेषनाग अपने शरीर के विभिन्न अङ्गों से निवास, शय्या, आसन, पादुका, वस्त्र, तकिया और धूपवर्षा निवारक छत्र आदि के आकार धारण कर आप की अनन्त प्रकार से सेवा किया करते हैं, अतः लोगों ने उन्हें 'शेष' की उपाधि उचित ही दी है ।।

विषयानुक्रमणिका

आश्रम परिवार की ओर से प्रकाशित

****

क्रम सं०	विषय	पृ०सं०
१.	वैदिक-वाणी	३
२.	शरणागति रहस्य	
३.	रत्नत्रय एवं प्रार्थना	
४.	अस्त्रराग श्रीसुदर्शन-चक्र	
५.	अर्चामूर्ति की पूजा अनादिकालिक	
६.	दैनिक-जीवन में धर्म का रूप	
७.	श्रीराम-भरत संवाद	
८.	विशिष्टाद्वैत	
९.	उपासना दो प्रकार की	
१०.	भगवान दु:खी क्यों होते हं?	
११.		
१२.		
१३.		
१४.		
१५.		
१६.		

●

नियमावली

१. यह पत्रिका त्रैमासिक प्रकाशित होगी।

२. इस पत्रिका का वार्षिक चन्दा (अनुदान) ३५ रुपये तथा आजीवन सदस्यता ५०१ रुपये मात्र हैं।

३. इस पत्रिका में भगवत् प्रेम सम्बन्धी, ज्ञान-भक्ति और प्रपत्ति के भावपूर्ण लेख या कवितायें प्रकाशित हो सकेगी।

४. किसी प्रकार का पत्र व्यवहार निम्नलिखित पते पर किया जा सकता है।

५. लेख आदि किसी भी प्रकार के संशोधन आदि का पूर्ण अधिकार सम्पादक के पास सुरक्षित होगा।

—सम्पादक

।। श्रीमते रामानुजाय नमः ।।

वैदिक-वाणी

मानवेतर शरीर कर्मानुसार पूर्वजन्म-कृतकर्मों के फलों को भोगने के लिए मिलता है और मानव-शरीर भगवान की कृपा से भगवत्प्राप्ति के लिये। किसी भी मानव को अपना उद्देश्य नहीं भूलना चाहिए। जो उत्तम मानव शरीर की प्राप्ति के उद्देश्य को भूल जाता है, वह मानव नहीं है, प्रत्युत मानवाकृति पशु है। पशुओं में अपने जीवन के उद्देश्य को समझने की क्षमता नहीं होती है; क्योंकि घोड़ा, हाथी, बैल आदि सभी पशु शरीर के अनुसार चलना, ढोना आदि अपना सभी कर्म कर सकते हैं; परन्तु जीवात्मा का स्वरूप कैसा है, इसे सच्ची शान्ति कैसे मिल सकती है, उसका उपाय क्या है? ये सब सोचने, समझने तथा करने की शक्ति पशु, पक्षी आदि में नहीं है। इसे तो मानव ही सोच समझकर कर सकता है। इसीलिए प्रभु ने इसे सुन्दर शरीर में भेजा है। अत एव कठोपनिषद् में मानव शरीर को रथ से उपमित किया है।

यह शरीर रथ है। पाँच कर्मेन्द्रियाँ और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ–ये रथ को वहन करने वाले दश घोड़े हैं। रथ को नियमित रूप से ले चलने के लिए सारथि की आवश्यकता होती है।

इस रथ में बुद्धि सारथि है। घोड़े को वश में रखने के लिए लगाम रहता है। यहाँ मन ही लगाम है। आत्मा रथ का स्वामी, जो रथी बनकर रथ पर बैठा हुआ है। इसे शरीर रूप रथ के द्वारा परमात्मा तक पहुँचना है। मार्ग लम्बा है। जैसे कुशल सारथि ही रथ पर बैठे यात्रियों को गन्तव्य स्थान तक पहुँचा पाता है। अकुशल सारथि से घोड़े वश में नहीं होते हैं। जिसका फल होता है कि घोड़े मार्ग से विचलित होकर रथ, यात्री तथा अपने को भी विपदग्रस्त कर देते हैं। वैसे ही चतुर सारथि ही जीवात्मा को आसानी से प्रभु के पास पहुँचा सकता है। यहाँ बुद्धि सारथि है, उसमें सात्त्विकता होनी चाहिए। जिसकी बुद्धि सात्त्विकी रहती है उसका मनरूप लगाम वश में रहता है, जिससे इन्द्रियों को अपने भोग की ओर जाने का अवसर नहीं मिलता है। जिसका परिणाम यह होता है कि जीवात्मा शरीर रूपी रथ के द्वारा भगवान के पास अवश्य पहुँच जाता है। जिसकी बुद्धि सात्त्विकी नहीं है उसका मन कभी भी वश में नहीं हो सकता और जब मन ही वश में नहीं हुआ तो अन्य इन्द्रियों का कल्याण मार्ग से विचलित होना तो स्वाभाविक ही है। वे अपने भोग की ओर जाकर शरीर रूप रथ तथा जीवात्मा रूप सारथि को भगवत्प्राप्ति से वञ्चित कर देती है। वह जीवात्मा नारकीय कष्ट भोगता रहता है।

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धि तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च।।
इन्द्रियाणि ध्यानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः।।
विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्।।

शरणागति रहस्य

मोक्ष के दो साधन है भक्ति और प्रपत्ति। ये दोनों भगवान् की प्रसन्नता में कारण हैं। इनसे प्रसन्न होकर भगवान् मोक्ष प्रदान करते हैं, इसलिए तत्त्वत्रय में ***'भक्तिप्रपत्तिभ्यां प्रसन्नः सन् ईश्वर एवं मोक्षं ददाति'*** ऐसा कहा है।

भक्ति और प्रपत्ति इन दोनों साधनों में भक्तियोग कठिन है; क्योंकि उसके लिए शक्ति चाहिए, प्रपत्ति (शरणागति) योग में शक्ति की आवश्यकता नहीं है, अतः सुलभ है। भक्तियोग के लिए कर्म और ज्ञान से विशुद्ध जीवस्वरूप का दर्शन चाहिए; क्योंकि विशुद्ध जीवात्मा स्वरूप का ज्ञान भक्ति का अङ्ग है। जीवात्मा जब अपने को समझ जाता है कि मैं ज्ञानानन्दमय, अणु और भगवान् का दास हूँ, तब उसमें भगवान् के प्रति भक्ति आती है। इसलिए गीता–१८.५४-५५ से भगवान् ने कहा कि ब्रह्मभूत (आत्मस्वरूप का दर्शन प्राप्त व्यक्ति) ***'मद्भक्तिं लभते पराम्'*** मेरी पराभक्ति प्राप्त करता है, तदनन्तर दिव्य गुणों और विभूतियों से युक्त मेरा स्वरूप और स्वभाव को जानकर मुझे प्राप्त करता है। गीता–१०.७ से भगवान् ने कहा है कि जब भक्त मेरे दिव्य गुणों और विभूतियों से युक्त यथार्थ रूप को समझ जाता है तब उसमें मेरी निश्चल भक्ति होती है।

गीता–१२.९-१० तथा ११ से भगवान् ने कहा कि जिसका मन मुझमें नहीं लगता हो वह उसके लिए अभ्यास करे। अगर अभ्यास करने में असमर्थ हो तो मेरे निमित्त कर्म करे। उसमें भी असमर्थ होने पर निष्काम कर्मयोग के द्वारा परम्परया आत्मदर्शन प्राप्त कर मेरी भक्ति प्राप्त कर ले। इस तरह ऐकान्तिक भक्ति के लिए आत्मा की निर्मलता आवश्यक है और आत्मा की निर्मलता के लिए निष्कामकर्म और ज्ञानयोग भी आवश्यक है। इसीलिए गीता कर्म और ज्ञान को अङ्ग और भक्ति को अङ्गी के रूप में स्वीकार करती है। प्रपत्ति (शरणागति) में आत्मदर्शन की आवश्यकता नहीं कही गयी है। सत्त्व, रज और तम–इन तीनों गुणों से मिश्रित जो भगवान् की माया है, वह सब जीवों को आत्मा और परमात्मा के यथार्थ ज्ञान से वञ्चित कर देती है। इसी से जीव विभिन्न प्रकार के दूषित कर्मों को करता है और उसके फलस्वरूप विविध कष्टों को भोगता है। जन, धन, बल, विद्या आदि किसी भी साधन से संसार का कष्ट दूर नहीं हो सकता। उसके लिए एक ही उपाय है भगवान् की शरणागति।

भगवान् ने गीता में इस रहस्य को प्रथम बार सप्तम अध्याय के १४वें श्लोक से प्रकट किया है। उन्होंने कहा है कि मेरी त्रिगुणमयी दैवी माया को पार करना कठिन है, जो मेरी शरण में आ जाते हैं, वे मेरी माया के सम्बन्ध से रहित हो जाते हैं। भगवान् की प्रसन्नता के लिए यह अमोघ उपाय है। मोहग्रस्त अर्जुन ने जब भगवान् से कहा कि ***'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्'*** अर्थात् मैं आपका शरणागत शिष्य हूँ, आप मुझे कल्याण के मार्ग का उपदेश करें, तब भगवान् ने अर्जुन को गीता के द्वितीय अध्याय के १२वें श्लोक से १८वें अध्याय के ५७वें श्लोक तक निष्काम कर्म, ज्ञान और भक्तियोग का उपदेश किया; परन्तु अर्जुन पर उसका प्रभाव नहीं पड़ा। भगवान् उसकी चेष्टा को देखकर समझ गये कि अर्जुन पर मेरे उपदेशों का प्रभाव नहीं है। यह मेरे आदेशानुसार युद्धादि साधनों का पालन करना नहीं चाह रहा है, तब

उन्होंने तीन बातें कहीं—

(१) यदि तुम अहङ्कारवश मेरी बात नहीं सुनोगे तो नष्ट हो जाओगे।

(२) मोहवश होकर 'मैं युद्ध नहीं करूँगा' ऐसा मत सोचो; क्योंकि तुम क्षत्रिय हो, क्षत्रिय का स्वाभाविक कर्म शौर्य है, शौर्यरूप अपने कर्म से विवश होकर दूसरों के द्वारा किये जाते हुए अपमान को न सहनकर स्वयं युद्ध में प्रवृत्त हो जाओ।

(३) मायापति ईश्वर सब प्राणियों के हृदय में स्थित रहकर शरीर, इन्द्रिय आदि के रूप में स्थित प्रकृतिरूप मन्त्र पर आरूढ़ उन सबों को अपनी माया से घुमा रहा है। इसलिए शरणागत वत्सलता के कारण तेरे सारथि रूप में उपस्थित तथा सबों के हृदय में रहने वाले की शरण ग्रहण करो, तुम उसकी कृपा से शाश्वत शान्ति का स्थान प्राप्त करोगे।

इन बातों को सुनकर भी जब अर्जुन युद्ध के लिए तैयार नहीं हुआ, तब भगवान् ने कहा कि मैंने अभी तक जिन गुह्य और गुह्यतर कर्म, ज्ञान तथा भक्तियोग का उपदेश किया है, उन्हें अच्छी तरह से विचार करके 'यथेच्छसि तथा कुरु' जैसी इच्छा हो वैसा करो। भगवान् के इस अन्यमनस्क वचन से अर्जुन की दयनीय स्थिति हो गयी। भगवान् ने विचार किया कि उपदेश आरम्भ से पूर्व इसने अपने को प्रपन्न शिष्य के रूप में स्वीकार कर मुझे आचार्य मान लिया है। आचार्य का कर्त्तव्य होता है कि अगर शिष्य अज्ञानवश आचार्य की बात न माने तो उस पर शासन करे। अर्थात् किसी प्रकार से सही मार्ग पर लाने का प्रयास करे। अत: भगवान् ने पुन: कहा कि तुम मेरे अत्यन्त प्रिय हो, इसलिए तेरे लिए हितकर सर्वगुह्यतम श्रेष्ठ वचन कहता हूँ, उसे सुनो—तुम मुझमें मन लगा दो, मेरा भक्त बनो, मेरी पूजा करो और मुझे नमस्कार करो, इससे तुम मुझे प्राप्त कर लोगे, मैं तुमसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ।

अर्जुन भगवान् के वचनों पर विचार करने लगा कि मुझे जैसी भक्ति करने को कह रहे हैं, वैसी भक्ति तो मुझमें तब आयेगी, जब मैं पापरहित हो जाऊँगा; क्योंकि पाप भक्ति का विरोधी है। सब पापों से मुक्त पुरुष ही भगवान् का सही भक्त हो सकता है। पापों के नाश के लिए अनेक प्रायश्चित्त कृच्छ्र, चान्द्रायणादि रूप धर्मों का अनुष्ठान करना हो तो उसके लिए विशेष समय और साधन की जरूरत है, जो मेरे लिए सम्भव नहीं है। भगवान् अर्जुन के इस मनोभाव को समझकर सर्वसुलभ और सर्वश्रेष्ठ मार्ग शरणागति का उपदेश किया है—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।।

(गीता–१८.६६)

अर्जुन! तुम भक्ति के विरोधी पापों को नाश करने वाले सभी कृच्छ्र, चान्द्रायणादि प्रायश्चित्त रूप धर्मों को छोड़कर एक मेरी शरण में आ जाओ, अर्थात् मुझे उपाय मान लो, मैं तुझे भक्ति के विरोधी सभी पापों से मुक्त कर दूँगा, चिन्ता मत करो। भगवान् के मुखारविन्द से शरणागति धर्म का उपदेश सुनते ही अर्जुन दृढ़ हो गया और उसने कहा कि हे प्रभो! आपकी कृपा से विपरीत ज्ञानरूप मोह नष्ट हो गया, यथार्थ तत्त्वज्ञान की स्मृति प्राप्त हो गयी, युद्ध करूँ या न करूँ यह सन्देह दूर हो गया। अब मैं आपके वचन का पालन करूँगा। गीता की अन्य बातों को सुनकर अर्जुन चिन्तामुक्त नहीं हुआ, किन्तु जब शरणागति धर्म का उपदेश

सुना तब उसकी समस्याओं का समाधान मिल गया। जब भगवान् ही उपाय बन गये तब फिर शेष (बाकी) रह ही क्या गया?

मैं महान् अपराधी हूँ, मेरे पास दूसरा कोई साधन नहीं होने से मैं अकिञ्चन हूँ, आप ही मेरा सर्वविध उपाय बन जायें, इस महाविश्वास के साथ प्रार्थना पुरः सर भगवान् के चरणों में अपने को समर्पण कर देना ही शरणागति है। प्रपत्ति को ही न्यास विद्या कहते हैं। न्यास का अर्थ है–समर्पण, जिसका वर्णन उपनिषदों में किया गया है। प्रपत्ति ही शरणागति है। शरणागति के पाँच अङ्ग होते हैं—

(१) श्रीभगवान् के अनुकूल रहने का सङ्कल्प करना।

(२) कभी भी श्रीभगवान् के प्रतिकूल न होने का निश्चय करना।

(३) श्रीभगवान् अवश्य मेरी रक्षा करेंगे, इस प्रकार का महाविश्वास करना।

(४) श्रीभगवान् ही एकमात्र हमारे रक्षक हैं, इस प्रकार का दृढ़ विश्वास रखना।

(५) अपनी रक्षा में अपने को असमर्थ समझते हुए श्रीभगवान् के चरणों में समर्पित हो जाना।

इस प्रकार इन पाँचों अङ्गों सहित अपने को भगवान् के चरणों में समर्पण कर देना चाहिए। यहाँ समर्पण अङ्गी है अन्य पाँच अङ्ग हैं। अङ्गी को लेकर ही श्लोक में कहीं-कहीं षड्विध शरणागति कही गयी है; परन्तु यतीन्द्रदीपिका में शरणागति के पाँच ही अङ्ग स्वीकार किये गये हैं। अर्जुन पाँच अङ्गों से परिपूर्ण भगवान् का शरणागत हो गया। इसलिए उसने भगवान् से महाविश्वासपूर्वक कहा कि अब मैं आपके वचन का पालन अवश्य करूँगा। तदनन्तर युद्ध के लिए तैयार हो गया। पुनः शरणागत अर्जुन का प्रसङ्ग सुनें—

महभारत युद्ध चल रहा था। नवमें दिन तक एक भी वीर मारा नहीं गया था। युद्ध समाप्ति के बाद सायंकाल सभी पक्ष के जन अग्रिम दिन की तैयारी करते थे। इसी परिप्रेक्ष्य में दुर्योधन भीष्मपितामह को बहुविध फटकार रहा था। आप मेरे पक्ष में रहकर, मेरा अन्न खाकर हृदय से पाण्डवों का कल्याण चाहते हैं। जिसका प्रत्यक्ष परिणाम दिखाई पड़ रहा है कि एक भी पाण्डव का वध नहीं हुआ। आप विश्व के प्रथम धनुर्धर हैं फिर भी एक भी पाण्डव का वध न होना निश्चित ही भीतर से पाण्डव के पक्षपाती होने का प्रमाण है। इस तरह फटकार (अपमान) मिलने के पश्चात् भीष्मपितामह ने दृढ़ सङ्कल्प लिया कि कल मैं निश्चित ही किसी एक पाण्डव का वध करूँगा अथवा चिता में जलकर भष्म हो जाऊँगा। वह ऐसा करने के लिए पाँच बाणों को निकाल कर रख लिए।

अन्तर्यामी भगवान् श्रीकृष्ण के लिए क्या छिपा था? भगवान् श्रीकृष्ण उस सङ्कल्प से अवगत होकर पाण्डवों की रक्षा के लिए तत्पर हो गये। इसी क्रम में वे अर्जुन के पास गये। अर्जुन दिनभर के युद्ध से श्रान्त होकर निश्चिन्त सोया हुआ था। भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को उठाकर पूछते हैं। अर्जुन कल के युद्ध के विषय में विचार किये हो? भीष्मपितामह का कठोर दृढ़ सङ्कल्प हो चुका है। कल के युद्ध में एक पाण्डव मारे जाओगे और तुम निश्चिन्त होकर सोये हुए हो। अर्जुन ने कहा— तुम्हारे रहते भी निश्चिन्तता नहीं होगी तो कब होगी? चिन्ता तुम्हारे ऊपर है, मैं तुम्हारे भरोसे निश्चिन्त सोऊँगा।

श्रीकृष्ण ने कहा—तुम सोओ। इसके पश्चात् भगवान् श्रीकृष्ण द्रौपदी के पास सम्पूर्ण वृत्तान्त जाकर सुना देते हैं और द्रौपदी से कहते हैं कि कल पाण्डवों पर आने वाली विपत्ति को दूर करने में

सहयोग करो। तुम भीष्मपितामह के पास जाकर प्रणाम कर आशीर्वाद ग्रहण करो। तीन बार आशीर्वाद ले लेना। द्रौपदी बोली—अर्द्धरात्रि है, कुरुकुल वधू एकाकी नहीं जा सकती है। दासी के साथ जाऊँगी। श्रीकृष्ण सोचते हैं कि यदि दासी जायेगी तो रहस्य जान जायेगी; क्यों न मैं ही दासी बन जाऊँ। भगवान् दासी बनकर द्रौपदी के साथ चले। मार्ग में द्रौपदी के चरणपादुका से आवाज हो रही थी। उस आवाज से कोई जाग न जाये इस आकशङ्का से चरणपादुका साड़ी में छिपाकर चल पड़े।

भीष्मपितामह के शिविर से दूर ही रहकर भगवान् श्रीकृष्ण ने द्रौपदी को प्रणाम करने का निर्देश दिया था। द्रौपदी जाकर दोनों हाथों से चरण स्पर्श करती है। कोमल कर स्पर्श से रोमाञ्चित होकर भीष्मपितामह सौभाग्यवती भव, सौभाग्यवती भव, सौभाग्यवती भव का आशीर्वाद तीन बार देते हैं। तीन बार आशीर्वाद देने के पश्चात् उठकर द्रौपदी से पूछते हैं—बेटी अर्द्धरात्रि में आना किसी विपत्ति का सूचक है। द्रौपदी ने कहा—आर्यश्रेष्ठ आपका आशीर्वाद सत्य होगा न? इतना कहते ही उन्हें अपना सङ्कल्प याद आ गया और शिविर से बाहर निकल कर बोले कि छलिया कृष्ण कहाँ है? उसी की ही यह योजना है। दासी वेश में भगवान् कृष्ण की भीष्म साड़ी खींच लेते हैं और उन्हें प्रणाम कर कहते हैं जिसके साथ तुम हो उसकी हानी कैसे हो सकती है। यही 'मा शुच' अर्थ का यथेष्ट पालक अर्जुन की कृष्ण में अनन्यता थी। अत: आत्मोत्सर्ग कर बिल्कुल निश्चिन्त रहने लगा और भक्तवत्सल कृष्ण 'योगक्षेमं वहाम्यहम्' का वहन किया है।

शरणागति में अधिकारी नियम नहीं है। अकिञ्चन सभी जीव भगवान् की शरणागति के अधिकारी हैं। भगवान् ने ९वें अध्याय के ३२वें श्लोक से स्पष्ट कह दिया है कि मुझमें शरणागति होने पर पापयोनि में जन्म लेने वाले स्त्री, वैश्य और शूद्र आदि सभी प्राणी परमगति के अधिकारी हो जाते हैं। अत एव कालियनाग की पत्नी, द्रौपदी आदि अन्यान्य स्त्रियाँ, श्री जनकनन्दिनी के प्रति महान् अपराध करने वाले काक, पशुरूप में रहने वाला गजेन्द्र, राक्षस जाति में जन्म लेने वाले विभीषण, गरुड़ से भयभीत सुमुख नामक सर्प आदि ने भगवान् की शरणागति की है।

भगवान् की शरणागति में फल का नियम भी नहीं है। केवल मोक्ष के लिए ही भगवान् की शरणागति नहीं होती है, किन्तु लौकिक और पार-लौकिक सभी फलों को देने वाली भगवान् की शरणागति है। शरणागत भक्त दो प्रकार के होते हैं—एकान्ती और परमैकान्ती। जो मुक्ति के साथ अन्य फलों को चाहता है, उसे एकान्ती और जो केवल मोक्ष के लिए ही शरणागति करता है, उसे परमैकान्ती कहा गया है। इसीलिए भगवान् श्रीकृष्ण ने चतुर्थ अध्याय के ११वें श्लोक से कहा है कि जो जिस भाव से मेरी शरण में आता है मैं उसकी भावना के अनुसार ही उस पर अनुग्रह करता हूँ।

अत एव शरणागति के प्रभाव से युधिष्ठिर को राज्य, द्रौपदी को वस्त्र, नाग पत्नियों को पति, काक और कालिय को जीवन, गजेन्द्र को भगवान् तथा श्रीविभीषण को श्रीराम का मिलन प्राप्त हुआ। इसी तरह सुमुख को गरुड़ जी से त्राण तथा श्रीलक्ष्मी जी को श्रीराम का कैङ्कर्य मिला। अत: श्री भगवान् की शरणागति से सब जीवों को सब प्रकार के फल प्राप्त होते हैं; परन्तु मानव को चाहिए कि भगवान् से क्षुद्र फल न माँगकर अनन्त और अक्षय सुख प्राप्त करे।

रत्नत्रय एवं प्रार्थना

श्रीमन्नारायण के चरण-कमलों में निर्मल प्रेम करने वाले पूर्वाचार्यों ने अपनी चिर साधना तथा अध्यात्म-शास्त्रों का मन्थन कर मानव-जीवन के लिए परम उपयोगी तीन रत्नों को निकाला है। मन्त्ररत्न, पुराणरत्न और स्तोत्ररत्न। श्रीवैष्णवों को दीक्षित होते समय आचार्यों से तीन मन्त्र प्राप्त होते हैं–मूलमन्त्र, द्वयमन्त्र और चरममन्त्र। ***'ॐ नमो नारायणाय'*** यह वैदिक मूलमन्त्र है। इसमें आठ अक्षर होने से इसे अष्टाक्षर मन्त्र कहते हैं। इस मन्त्र का जाप करने से आत्मस्वरूप का ज्ञान, आयु, धन, पुत्र, इन्द्रियों पर संयम और शरीरान्त के बाद मोक्ष प्राप्त होता है।

'श्रीमन्नारायण चरणौ शरणं प्रपद्ये, श्रीमते नारायणाय नमः' यह द्वयमन्त्र है। इसे ही मन्त्ररत्न कहते हैं। इसमें छः पद और २५ अक्षर हैं। इस मन्त्र में 'ॐ' नहीं लगाया जाता। यह श्रीशब्द से प्रारम्भ होता है। श्री का अर्थ है–लक्ष्मी। जीवात्मा लक्ष्मी के माध्यम से भगवान नारायण के चरणों में जो माँग रखता है, वह अवश्य पूरी होती है। इस मन्त्र से श्रीयुक्त नारायण का शरणागत होकर उनसे नित्य सेवा के लिए प्रार्थना करते हैं। हमारे श्रीवैष्णव दर्शन के अनुसार यह जीव ब्रह्म का दास है। श्रीवैकुण्ठ में भगवान की नित्य सेवा में संलग्न हो जाना ही मुक्ति का सही स्वरूप है। अतः जीवन का सर्वस्व भगवान की नित्य सेवा की प्रार्थना जिस मन्त्र से करते हैं, वह मन्त्र रत्न स्वरूप है। हम जीवों के अविनाशी परम-धन भगवच्चरणारविन्द की सेवा है। हम सतत अपने द्वयमन्त्र रूप रत्न को हृदय में रखें और उससे अक्षय तथा अनन्त स्वरूप भगवान के दिव्य चरणों की सेवार्थ प्रार्थना करें।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।।

यह चरम मन्त्र है। इससे भगवान के चरणों में दृढ़ विश्वास उत्पन्न होता है। भगवान ने कहा कि सबसे मन हटाकर मेरे चरणों को उपाय मान लो, मैं तुझे कष्टप्रद और मुक्ति विरोधी सभी पापों से मुक्त कर दूँगा। किसी प्रकार की चिन्ता मत करो। इस मन्त्र के भाव को हृदय में रखते हुए द्वयमन्त्र से नित्य सेवा के लिए प्रार्थना करे।

दूसरा रत्न श्रीविष्णुपुराण है। अठारह पुराणों में छः सात्त्विक, छः राजस तथा छः तामस हैं। श्रीविष्णु-पुराण, नारदपुराण, भागवतपुराण, गरुड़पुराण, पद्मपुराण और वाराहपुराण सात्त्विक कहे गये हैं—

वैष्णवं नारदीयं च तथा भागवतं शुभम्।
गरुडं तथा पाद्मं वाराहं शुभ दर्शने।
सात्त्विकानि पुराणानि विज्ञेयानि शुभानि वै ।।

(पद्मपुराण उत्तरखण्ड)

इन सभी पुराणों में दार्शनिकों ने विष्णुपुराण को अधिक महत्त्व दिया है। श्रीशङ्कराचार्य ने ब्रह्मसूत्र का भाष्य करते समय तत्त्व प्रतिपादन के लिए श्रीविष्णुपुराण के श्लोकों को ही प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया है। श्रीस्वामी रामानुजाचार्य ने भी अद्वैतमत खण्डन-पूर्वक विशिष्टाद्वैत तत्त्वों को प्रमाणित करने के लिए श्रीविष्णुपुराण के वचनों का उल्लेख किया है। अतः तात्त्विक वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप का प्रतिपादक श्रीविष्णुपुराण रत्नस्वरूप है। इसके अध्ययन, श्रवण आदि से मानव के वैदिक ज्ञान का विकास होता है एवं चतुर्विध पुरुषार्थ की प्राप्ति होती है।

तृतीय रत्न आलवन्दार स्तोत्र है इसमें श्रीस्वामी यामुनाचार्य ने वेदान्त के समस्त तत्त्वों का सरल रीति और सुगम रूप से प्रतिपादन किया है। यह छन्दोबद्ध है। इसके श्लोक वैदिक मन्त्र के समान हैं। इनके उच्चारण एवं श्रवण से सबों का मन भगवत्प्रेम में डूब जाता है। सभी वैष्णवों को आलवन्दार स्तोत्र का प्रत्येक श्लोक रत्न के समान हृदय में धारण करना चाहिये। इनके पाँच श्लोक

यहाँ दिये जा रहे हैं। भक्तगण उनसे भगवानकी प्रार्थना करेंगे। श्लोक के साथ हिन्दी भी है। अगर श्लोक के उच्चारण में कठिनाई हो तो हिन्दी गद्य से ही भगवान से प्रार्थना करे।

न धर्मनिष्ठोऽस्मि न चात्मवेदी,
न भक्तिमांस्त्वच्चरणारविन्दै।
अकिञ्चनोऽनन्यगतिश्शरण्यं,
त्वत्पादमूलं शरणं प्रपद्ये।।१।।

अर्थ—हे समस्त जड़-चेतनों की रक्षा करने वाले प्रभो! शास्त्रों में निष्काम कर्म, ज्ञान और निर्मल भक्ति मोक्ष साधन के रूप में कहे गये हैं। उनमें मैं न कर्मयोगी हूँ, न आत्मज्ञानी हूँ और न मुझे आपके चरण-कमलों में निर्मल तथा अनन्य प्रेम ही है। मैं कल्याणार्थ सभी प्रकार के साधनों से शून्य होने से अकिञ्चन हूँ। दूसरा कोई भी मेरी रक्षा करने वाला नहीं है। अत एव मैं अनन्य गति हूँ। आप शरणागतों की रक्षा करने वाले हैं। इसलिये आपके चरण-कमलों की शरण में आया हूँ।।१।।

न निन्दितं कर्मतदस्ति लोके
सहस्रशो यन्न मया व्यधायि।
सोऽहं विपाकावसरे मुकुन्द
क्रन्दामि सम्प्रत्यगतिस्तवाग्रे।।२।।

अर्थ—हे मोक्ष प्रदान करने वाले मुकुन्द! संसार में शास्त्र निषिद्ध ऐसा कोई भी कर्म नहीं है, जिसे मैं हजारों बार नहीं किया हूँ। अर्थात् मैं लोक मैं हजारों निन्दित कर्म करता रहा हूँ। भयङ्कर पापों के करने वाला मैं जब पाप कर्म का फल भोगने का समय आया है तब दु:खों से रक्षा के लिए आपके सामने हो रहा हूँ।।२।।

निमज्जतोऽनन्तभवार्णवान्तश्चि-
रायमे कूलमिवासि लब्धः।
त्वयापि लब्धं भगवन्निदानी-
मनुत्तमं पात्रमिदं दयायाः।।३।।

अर्थ—हे अनन्तगुण विभूति वाले प्रभो! इस संसाररूपी समुद्र में डूबते हुए मुझको बहुत दिनों के बाद आप किनारे के समान मिले हैं। भगवान! आपको भी दया का श्रेष्ठ पात्र मैं अब ही मिला हूँ। मेरे समान उत्तम दया का पात्र आपको और कौन मिलेगा? अत: इस पापी पर आप दया दृष्टि करें।।३।।

अभूतपूर्वं मम भावि किं वा
सर्वं सहे मे सहजं हि दु:खम्।
किन्तु त्वदग्रे शरणागतानां परा-
भवो नाथ! न तेऽनुरूपः।।४।

अर्थ—हे नाथ! अनन्त पापों के कारण मैं अनन्त काल से नरक, गर्भवास, जन्म, जरा-मरण आदि अनेक दु:खों का अनुभव करता आया हूँ। अभी तक कोई ऐसा नहीं जिसे मैं नहीं भोगा हूँ। दु:ख तो मेरे जन्म के साथ ही आते हैं मैं स्वाभाविक रूप से सब दु:खों को सहता हूँ। उससे मुझे भय नहीं; परन्तु आपके शरणागतों को भी दु:खादि रूप अपमान सहना पड़े यह आपके अनुरूप नहीं है। इसमें आपकी ही बदनामी है; क्योंकि आपने शरणागतों की रक्षा के लिए अभयदान दिया है। वह वचन सार्थक कहाँ और कब होगा। अत: मुझ जैसे शरणागतों की रक्षा में ही आपकी शोभा है।।४।।

निरास कस्यापि न तावदुत्सहे
महेशः! हातुं तव पाद पङ्कजम्।
रुषा निरस्तोऽपि शिशुस्स्तनन्धयो
न जातु मातुश्चरणौ जिहासति।।५।।

अर्थ—हे सर्वेश्वर! जिस प्रकार दुधमूहाँ बच्चा को उसके अपराध के कारण उसकी माता रुष्ट होकर अपनी गोद से दूर हटा देती है; परन्तु वह बच्चा किसी दूसरे के पास नहीं जाता। पुन: अपनी माँ की गोद में ही आ जाता है। उसी प्रकार हे प्रभो! आप अपराध के कारण मुझे अपने चरणों से अलग भी कर देगें तो भी मैं आपके चरणों को छोड़कर कहीं नहीं जाऊँगा; क्योंकि आपके बिना मेरी रक्षा कौन करेगा।

अस्त्रराज श्रीसुदर्शन-चक्र

स्फुरत्सहस्रारशिखातितीव्रं
सुदर्शनं भास्करकोटितुल्यम् ।
सुरद्विषां प्राणविनाशिविष्णो-
श्चक्रं सदाऽहं शरणं प्रपद्ये ।।

भक्त भयहारी भगवान नारायण के प्रधान अमोघ अस्त्र सुदर्शन-चक्र हैं। भगवान नारायण अपने दक्षिण हाथ में सुदर्शन-चक्र को धारण किये रहते हैं। सुदर्शन-चक्र में करोड़ों सूर्य के समान तेज है।

श्रीसुदर्शन-चक्र—विश्व को मार्ग प्रदर्शन करने में नेत्र के समान प्रधान है, उनसे शुभ-अशुभ कर्म विनष्ट हो जाते हैं, वे उपासकों को धर्म, काम और मोक्ष प्रदान करने वाले, शत्रुवर्ग का संहारक तथा ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य और तेज–इन षड् गुणों से सम्पन्न हैं। श्रीसुदर्शन-चक्र अपनी दिव्य ज्योति द्वारा हजारों विपत्तियों का निवारण करते हैं।

श्रीसुदर्शन-चक्र भगवान का आयुध होते हुए दिव्य एवं चेतन है। इनमें प्राकृत प्राणियों के पाप तथा कष्ट-निवारण की अपूर्व क्षमता है। भगवान की तरह उनके आयुध श्रीसुदर्शन-चक्र का भी पूजन होता है। वर्तमान में श्रीरङ्गम्, काञ्चीपुरी आदि दिव्यदेशों में भगवान की प्रतिमा की तरह श्रीसुदर्शन-चक्र का पूजन हो रहा है। सुदर्शन-चक्र को प्रसन्न करने के लिए श्रीसुदर्शन-शतक का पाठ किया जाता है। जिसका अपूर्व चमत्कार देखा जा रहा है। महान् विपत्ति में पड़े हुए व्यक्ति के कष्ट का निवारण श्रीसुदर्शन-शतक के पाठ से होता है। राहु, शनि आदि क्रूर ग्रहों के प्रभाव को हटाने की सामर्थ्य श्रीसुदर्शन-शतक में है। उसमें भी व्यक्ति के मारकेश उपस्थित होने पर उसके निवारण का अपूर्व चमत्कार देखा गया है। अनेक भक्त श्रीसुदर्शन-शतक के पाठ द्वारा कष्टों से मुक्ति पाये हैं। श्रीशत्रुघ्न जी श्रीसुदर्शन-चक्र के ही अवतार थे।

जातौ भरतशत्रुघ्नौ शङ्खचक्रे गदाभृतः ।
(अध्यात्म–१.४.१८)

अर्थात् भगवान् गदाधर के शङ्खचक्र भरत और शत्रुघ्न के रूप में अवतरित हुए हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि नित्य शत्रु हैं, उनके नाश करने वाले शत्रुघ्न जी हैं। ***'शत्रुघ्नो नित्य शत्रुघ्नः'*** जीव अनादि काल से कष्टों का अनुभव करते आ रहा है। उससे मुक्ति के लिए वेदों एवं शास्त्रों में चक्राङ्कित होना आवश्यक कहा गया है। चक्र की प्रतिकृति बनाकर आचार्यगण शिष्यों को दक्षिण भुजा पर अङ्कित करते हैं। पञ्च संस्कारों में प्रथम संस्कार है–शङ्ख-चक्र धारण करना। ***'आद्यं तु वैष्णवं प्रोक्तं शङ्खचक्राङ्कणं हरेः'*** सुदर्शन-चक्र धारण करना सोलह प्रकार की भक्तियों में प्रथम भक्ति है। ऐसा देखा गया है कि जो व्यक्ति विशेष कष्ट में भी हो और वह शङ्ख-चक्रादि पञ्चसंस्कारों से संस्कृत हो जाता है तब वह उस कष्ट से मुक्त हो जाता है।

अनन्यभक्त श्री अम्बरीष जी की रक्षा के लिए भगवान ने सुदर्शन-चक्र को नियुक्त कर दिया था। एक बार ईर्ष्यावश श्रीदुर्वासा जी श्री अम्बरीष जी को जलाने के लिए उद्यत हो गये। श्रीमन्नारायण के द्वारा श्री अम्बीष जी के रक्षार्थ नियुक्त श्रीसुदर्शन-चक्र कृत्या को भस्म कर दुर्वासा की ओर बढ़े। दुर्वासा जी समझ गये कि श्रीसुदर्शन-चक्र मुझे भी जला देंगे। अतः वे भाग चले। दुर्वासा जी सभी दिशाओं में भागकर अपनी जान बचाने का प्रयास करने लगे; परन्तु असह्य तेज वाले श्रीसुदर्शन-चक्रजी उनका पीछा नहीं छोड़ सके। तेजोमय चक्र से अपनी रक्षा के लिये दुर्वासा जी ब्रह्माजी के पास गये। ब्रह्मा ने कहा कि दुर्वासा जी! हम जिनके

बनाये नियमों में बँधे हैं तथा जिनकी आज्ञा शिरोधार्य करके हमलोग संसार का हित करते हैं उन भगवान के भक्त के द्रोही को बचाने में हम असमर्थ हैं। दुर्वासा जी वहाँ से निराश होकर शङ्कर जी के पास गये, शङ्कर जी ने दुर्वासा से कहा कि जिन नारायण से अनेकों ब्रह्माण्ड उत्पन्न होते हैं और समय आने पर उनमें लीन हो जाते हैं, जिनमें हमारे जैसे हजारों शिव चक्कर काटते रहते हैं। उन नारायण के भक्त से द्रोह करने वाले को बचाने में हम समर्थ नहीं हैं। विश्वेश्वर भगवान का यह चक्र हम लोगों के लिए असह्य है। आप भगवान की शरण में जाँये, वे ही आपका मङ्गल करेंगे। दुर्वासा जी भगवान के चक्र के तेज से जल रहे थे, उन्होंने काँपते हुए भगवान नारायण के चरणों में गिरकर कहा कि मैंने आपके प्रिय भक्त के प्रति अपराध किया है, आप मुझे उससे बचाईये। भगवान ने दुर्वासा से कहा कि ब्राह्मणों के लिए तपस्या और विद्या परम कल्याण के साधन हैं; परन्तु यदि ब्राह्मण उदण्ड या अन्यायी हो जाय तो वे दोनों उलटा फल देने लगते हैं। आप राजा अम्बरीष के पास जाइये, उनसे क्षमा माँगिये। दुर्वासा जी भगवान के आदेशानुसार अम्बरीष के पास गये। अम्बरीष ने प्रार्थना कर श्रीसुदर्शन-चक्र को शान्त कर दिया और दुर्वासा को हृदय से लगाया। इस प्रसङ्ग से श्रीसुदर्शन-चक्र का अपूर्व तेज और महत्त्व प्रकट होता है।

श्रीराम और सुदर्शन-चक्र

जिस समय भगवान श्रीराम का प्रादुर्भाव हुआ था। उस समय उनके चार हाथ थे। दो ऊपर की ओर और दो नीचे की ओर। वे ऊपर के बायें हाथ में श्रीसुदर्शन-चक्र धारण किये हुए थे। आध्यात्म रामायण के अनुसार अहल्या ने भगवान श्रीराम के चारों भुजाओं में शङ्ख, चक्र, गदा एवं पद्म से सुशोभित नारायण के रूप में देखा है। बैकुण्ठगमन काल में श्रीराम चतुर्भुज नारायण के रूप में होकर गये हैं। उस समय श्रीशत्रुघ्न जी चक्र के रूप होकर भगवान के हाथ में स्थित हो गये हैं।

श्रीकृष्ण और सुदर्शन-चक्र

भगवान श्रीकृष्ण ने शिशुपाल को सुदर्शन-चक्र से वध किया था। जरासन्ध की मृत्यु के बाद कैदियों ने भगवान श्रीकृष्ण को चतुर्भुज–शङ्ख, चक्र, गदा, पद्मधारण किये हुए साक्षात् नारायण के रूप में दर्शन किया है। जरा व्याघा के द्वारा भगवान श्रीकृष्ण के चरणों में बाण लगने से असह्य तेज वाले श्रीसुदर्शन-चक्र मूर्तिमान होकर भगवान की सेवा कर रहे थे। भगवान श्रीकृष्ण के साथ ही वे नित्यधाम बैकुण्ठ चले गये।

एक बार करुष देश का राजा शाल्व मूर्खों के कहने पर अपने को वासुदेव कहने लगा। उसने नकली दो भुजा बनाकर चतुर्भुज वासुदेव का रूप बना लिया। उसके पश्चात् वह द्वारिकापुरी में श्रीकृष्ण के पास एक दूत द्वारा यह सन्देश भेजा कि मैं ही वासुदेव हूँ कृष्ण! तुम अपने को वासुदेव कहना छोड़ दो, अन्यथा आकर युद्ध करो। भगवान श्रीकृष्ण ने उस दूत से कहा कि जाकर कह दो कि मैं आता हूँ। राजा शाल्व उन दिनों अपने मित्र काशी नरेश के पास ही रहता था। भगवान श्रीकृष्ण काशी पहुँच गये, शाल्व भगवान कृष्ण का आगमन सुनकर दो अक्षौहिणी सेना लेकर उनसे लड़ने के लिये बाहर निकल आया। काशी नरेश भी शाल्व की तरफ से श्रीकृष्ण से लड़ने के लिए आ गये। भगवान श्रीकृष्ण ने शाल्व की सारी सेनाओं को ध्वस्त कर दिया और अपने श्रीसुदर्शन-चक्र से शाल्व के सिर काट दिया। पुनः भगवान ने एक ऐसा बाण चलाया कि काशी नरेश का सिर कटकर राजद्वार पर जा गिरा। उसे देखकर काशी नरेश के परिवार शोक-मग्न हो गये। उनका पुत्र सुदक्षिण ने पिता के अन्त्येष्टि संस्कार के बाद श्रीकृष्ण को बध

करने का सङ्कल्प लिया। उसके लिए उसने काशी में रहकर अपने तप से शङ्कर जी को प्रसन्न किया। शङ्कर जी से उसने कहा कि जो मेरे पिता का वध करने वाला है, उसके वध का उपाय बतलाइये। शङ्कर जी ने कहा कि तुम दक्षिणाग्नि में अभिचार विधि से आराधना करो। उससे कृत्या के रूप में प्रकट होकर तुम्हारा शत्रु यदि ब्राह्मण का भक्त नहीं होगा तो उसे कृत्या मार डालेगा। सुदक्षिण ने अभिचार विधि से अग्नि का आराधना किया, अग्नि कृत्या का रूप धारण कर प्रकट हुआ और श्रीकृष्ण को जलाने के लिये द्वारिकापुरी पहुँच गया। उसके प्रतिक्रिया में भगवान ने अपने सुदर्शन-चक्र को छोड़ा सूर्य के समान देदीप्यमान श्रीसुदर्शन-चक्र को देखकर अग्नि लौट गया और काशी नरेश के पुत्र सुदक्षिण को नष्ट कर दिया। श्रीसुदर्शन-चक्र भी काशी में आकर सम्पूर्ण काशी को जलाकर भस्म कर दिया, तदनन्तर द्वारिका पुरी लौट गया। श्रीसुदर्शन-चक्र वर्तमान समय में भी मानव के विशेष कल्याणप्रद तथा सर्वविध कष्ट निवारक है जो व्यक्ति श्रीसुदर्शन-चक्र से प्रेम करता है उसे किसी प्रकार का भय तथा कष्ट नहीं होता है।

●

अर्चामूर्ति की पूजा अनादिकालिक

सत्य सनातन अखिलकोटि ब्रह्माण्डनियन्ता भगवान के अनन्तरूप, अनन्तगुण, अनन्तमहिमा, अनन्तशक्ति, अनन्तवैभव, अनन्तज्ञान एवं असंख्य-लीलायें हैं। इस प्रकार भगवत् सम्बन्धी सभी वस्तु में अनन्तता पायी जाती है। इन अनन्त वस्तुओं का यथार्थ ज्ञान रखने वाला परमात्मा सर्वज्ञ है। इसी विषय को वेद ने 'नेति-नेति' कहकर विश्राम लिया है। इन्हीं असंख्य भगवान के वैभवों में सृष्टि-चक्र भी है, अत: यह भी अनन्त और इसका प्रारम्भ काल भी अनादि है। ऐसे भगवान और इनकी नि:सीम वस्तुओं की सीमा बतलाना प्राकृत मनुष्यों के लिए अत्यन्त अल्पज्ञता और अनौचित्य से पूर्ण है। किन्तु—

अभक्तस्य परे शास्त्रे भगवान्न प्रकाशते।
जन्मान्तरसहस्रेषु बुद्धिर्या भाविता नृणाम्।।
'तामेव लभते जन्तुरूपदेशो निरर्थकः'।

के अनुकूल पूर्व जन्मों के कुसंस्कारों द्वारा परमात्मा की भक्ति से शून्य हृदय वाले व्यक्तियों को सच्छास्त्रों में विश्वास नहीं होता, अत: वे पुरातन स्वभाववश भगवान या उनकी लीला की आधार पृष्ठभूमि का यथार्थ ज्ञान नहीं रख सकने के कारण भगवान तथा उनकी वस्तुओं को भी सीमित समझते हैं। अर्चामूर्ति की आराधना कुछ लोग काल-कल्पित समझते हैं और इसकी पुष्टि में अनेक बिना आधार के ऋषि ग्रन्थों से अनभिज्ञ आधुनिक लेखकों के ग्रन्थों का प्रमाण भी दिया करते हैं, मनमाना वेद-स्मृतियों के विषय में भी कुतर्कता के समावेश द्वारा नास्तिक वाद का जड़ दृढ़ किया करते हैं, किन्तु जब हम एक वट और बीज की मीमांसा नहीं कर सकते कि कौन पूर्व से है तो सोचना चाहिए कि अदृश्य एवं अघटित घटना सामर्थ्यवान् के क्रिया-कलाप को सीमित अथवा प्राणी-कल्याणार्थ उनके बतलाए हुए मूर्ति के पूजनादि साधनों को कुछ काल से ही प्रलचित बतलाना सर्वथा अप्रामाणिक एवं समुद्र उलीचने जैसा दुष्कर और निष्फल है या नहीं। ऐसे व्यक्तियों की कुतर्कतापूर्ण ज्ञान अयथार्थज्ञान है अत: अमान्य करना अनिवार्य है।

उपर्युक्त मिथ्या धारणा या मिथ्या कल्पना को ही दूर करने के लिए अर्चामूर्ति की आराधना अनादिकालिक सिद्ध की जा रही है।

सृष्टिचक्र सतत चलते रहता है। ***'एवं संसृति-चक्रस्थे भ्राम्यमाणे०'*** कभी यह सृष्टि दृश्य रहती है तो कभी विलीन अवस्था में, किन्तु नियमानुसार धाराप्रवाह न्यायतः यह नित्य है।

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणोविदुः ।

अर्थात् सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग– इन चारों युगों का आयुमान मिलाकर एक महायुग होता है और ऐसे ही एक हजार महायुगों का ब्रह्मा का एक दिन होता है। इतने ही समय की इनकी रात्रि भी होती है। इनके दिन के प्रारम्भ में सृष्टि की उत्पत्ति तथा रात्रि के अन्त में इसका प्रलय होता है। अर्थात् एक हजार महायुग बीत जाने पर सृष्टि का संहार हो जाता है।

सृष्टि के प्रारम्भ में ***'यथापूर्वमकल्पयत्'*** इस श्रुति के अनुकूल जैसे पूर्व में परमात्मा ने सृष्टि की उत्पत्ति की थी यह भी ठीक वैसे ही रची जाती है। सृष्टि की स्थिति में दैवी बुद्धि वाले व्यक्ति भगवान् की आराधना के द्वारा इस संसार समुद्र से पार होकर माया बन्धन से मुक्त हो ***'त्रिपादस्यामृतं दिवि'*** इस श्रुति के अनुकूल भगवान के समीप दिव्यलोक में जाता है। भगवान् भक्तों के हितार्थ पाँच प्रकार से वर्तमान रहते हैं—

(१) **पर**—जो दिव्य लोक में सतत रहते हैं।

(२) **व्यूह**—जहाँ से अवतरित हो इस लोक में रामकृष्णादि रूप में दृश्य होते हैं, वे सङ्कर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध और वासुदेव हैं।

(३) **वैभव**—अवतार लेने पर राम, कृष्ण, वामन, विराट, नृसिंह आदि रूपों में कहलाते हैं।

(४) विश्वव्यापक परमात्मा को अन्तर्यामी कहते हैं।

(५) **अर्चा**—शालिग्राम, श्रीवेङ्कटाद्रि में रहने वाले तथा मन्त्र द्वारा प्रतिष्ठापित ग्रामादि के मन्दिरों में पाये जाते हैं। इन सबों को अर्चावतार शब्द से सम्बोधित करते हैं।

भगवान के इन पञ्चविधों में आराधकों के लिए अर्चावतार ही अत्यधिक सुगम तथा सुलभ है। अर्चावतार भगवान सर्वदेश, सर्वकाल, सर्वावस्था में मनुष्यमात्र से प्रत्यक्ष सेवा लेते हुए कल्याण करते हैं। भगवान स्वतः जागरूक रह भक्तों के कल्याणार्थ सृष्टि के प्रारम्भ से ही अन्त तक ***'पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति'*** इत्यादि उपदेश देकर उन सबों से स्वयं आराध्य बनकर उन भक्तों का कल्याण करते हैं।

यही सृष्टि-लीला का मुख्य उद्देश्य है और इसी से यह लीला भगवान को प्यारी है। अतः इसे कभी भी भगवान नहीं छोड़ते; क्योंकि प्रत्येक सृष्टि में कुछ न कुछ व्यक्ति मुक्त होकर परमात्मा की सन्निधि में अवश्य चले जाते हैं। उन मुक्तात्माओं को मुक्त होने में अर्चा की आराधना ही प्रधान तथा प्रमाण रूप में मिलती है। प्रथम प्रमाण स्वरूप आदि कवि वाल्मीकि रचित रामायण पर विचार करते हैं जिसकी रचनाकाल सृष्टि की आदि ही है। इसमें श्रीरामचन्द्रजी का चरित्र है। इसका निर्माता भी कोई साधारण व्यक्ति नहीं, बल्कि ***'नारदाय पुरा प्रोक्ता ब्रह्म कल्प उपावृते'*** अर्थात् ब्रह्माजी ने सर्वप्रथम यह रामचरित नारद को सुनाया और नारदजी वाल्मीकि को और वाल्मीकि सभी जनों को। रामावतार सृष्टि के प्रथम मनु स्वायम्भुव के शासन काल के एक महायुग बीतकर द्वितीय महायुग के सत्ययुग बीतने पर त्रेतायुग में हुआ था। जब श्रीरामचन्द्र जी का राज्याभिषेक काल आया तो उसके पूर्व दिन नियम-संयम के प्रसङ्ग में वसिष्ठ जी श्रीराम जी को कुछ उपदेश दिये थे जिसके अनुकूल—

गते पुरोहिते रामः स्नातो नियतमानसः ।
सह पत्न्या विशालाक्ष्या नारायणमुपागमत् ।।
ध्यायन्नारायणं देवं स्वास्तीर्णे कुश संस्तरे ।
वाग्यतः सह वैदेह्या भूत्वा नियत मानसः ।।
श्रीमत्यायतने विष्णोः शिश्ये नरवरात्मजः ।।

(वा०रा०–अयो०, स० ६)

श्रीरामचन्द्र जी सपत्नीक स्नानादि द्वारा शुद्ध भाव

से श्रीरङ्गनाथ भगवान की आराधना कर उन्हीं के मन्दिर में शयन भी किये थे। यही अभिषेकोत्सव में—

सिताभ्रशिखराग्रेषु देवतायतनेषु च ।

यह भी मिलता है। अर्थात् अन्यान्य देव मन्दिरों को भी सजाने का आयोजन हुआ था। इन उदाहरणों से प्रत्यक्ष अर्चामूर्ति की आराधना झलकती है। रह गयी बात काल के विषय में तो यह सोचना चाहिए कि आज हमलोग किसी कार्य के प्रारम्भ में सङ्कल्प ***'अष्टाविंशतितमे कलियुगे'*** इत्यादि वाक्य बोलते हैं। वर्तमान वैवस्वत मन्वन्तर है। इसके पूर्व छः मन्वन्तर बीत गये हैं—

मनवोऽस्मिन् व्यतीता षट० ।

'कल्पे स्वायम्भुवादयः' अर्थात् इस श्वेत, स्वयम्भु, स्वारोचिष, औत्तम, तामस, रैवत, चाक्षुष, वाराह कल्प से पूर्व छः मनु हो गये हैं। जिन सबों का आयुमान इस प्रकार है—

सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग इसको एक चतुर्युग कहते हैं। एक हजार चतुर्युगों का ब्रह्मा का एक दिन होता है। इतने ही काल में चौदहों मनु समाप्त हो जाया करते हैं। जिनमें एक मनु की आयु ७१ पूर्णाङ्क ६/१४ चतुर्युग होता है। एक चतुर्युग का मान मानवीय वर्ष से ४३ लाख २० हजार वर्ष का होता है। इसके अनुसार एक मनु की आयु मानवीय वर्ष से लगभग ३० करोड़ ८५ लाख, ७१ हजार, ४२८ वर्ष होते हैं। इस प्रकार छः मनु बीत चुके हैं। सप्तम वैवस्वत मन्वन्तर चल रहा है।

वर्तमान मन्वन्तर में २८वाँ चतुर्युग का कलियुग बीत रहा है। इसका भी ५ हजार ८७ वर्ष बीत चुके हैं। सर्वप्रथम स्वायम्भुव मनु के एक चतुर्युग बीतने के पश्चात् द्वितीय चतुर्युग के प्रथम सत्ययुग बीत जाने पर त्रेता में श्रीरामचन्द्र जी का अवतार हुआ था तो सोचना चाहिए कि कितना पूर्व से अर्चामूर्ति की आराधना चली आ रही है। यही नहीं श्रीराम जी के आदि पुरुष इक्ष्वाकु थे जिनकी वंशावलियाँ इस प्रकार पायी जाती है—

प्रथम ब्रह्मा से मरीचि का जन्म, मरीचि से कश्यप इनसे विवश्वान् मनु, इनसे श्राद्धदेव और श्राद्धदेव से इक्ष्वाकु। यही इक्ष्वाकु तपस्यादि द्वारा श्रीरङ्गनाथ भगवान को प्राप्त किये थे। वही भगवान इस कुल के इष्टदेव रूप में रहते हुए इक्ष्वाकु से लेकर दशरथ तथा श्रीरामजी पर्यन्त सबों से सेवा पूजा लेते रहे। अन्त में श्रीराम जी ने यही श्रीरङ्गनाथ भगवान को विभीषण को दिया था—

इत्युक्त्वा स काकुत्स्थः शार्ङ्गविष्णुः सनातनम् ।
श्रीरङ्गशायिनं सौम्यमिक्ष्वाकु कुलदैवतम् ।।
सम्प्रीत्या प्रददौ तस्मै रामो राजीवलोचनः ।

(पद्म० ३ख अ० २७१ श्लो० ६४)

अर्थात् भगवान श्रीरामचन्द्र स्वर्गारोहण काल में प्रसन्नचित्त से स्वकुल देव श्रीरङ्गनाथ भगवान को विभीषण को दे दिये। यही विषय वाल्मीकि ने भी लिखा है—

लब्ध्वा कुलधनं राजा लङ्कां प्रायाद्विभीषणः ।

(वा० सं० १३१)

अर्थात् विभीषण जी श्रीरङ्गनाथ को प्राप्त कर भारत के दक्षिण भाग के रङ्गपुरी में रखे, जो आज भी विद्यमान हैं और वह पुरी सभी धामों में प्रधान है। इससे यह सिद्ध होता है कि श्रीराम जी के पूर्व भी अर्चा की आराधना प्रचलित थी। इक्ष्वाकु भी अर्चामूर्ति के पूजक थे। यही रङ्गनाथ भगवान के सम्बन्ध में महात्मा तुलसीदास लिखे हैं (कौसल्या का कथन)—

मम कुल इष्टदेव भगवाना ।
पूजा हेतु किन्ह पकवाना ।।

यह अर्चा मूर्ति की पूजा का क्रम वर्तमान सृष्टि के आदि से ही नहीं, बल्कि ***'यथापूर्वमकल्पयत्'*** श्रुति के अनुकूल पूर्व सृष्टि के ही सभी संविधान इसमें भी विद्यमान हैं तो सिद्ध होता है कि सभी सृष्टियों में आदि कवि वाल्मीकि, उनकी रामायण, रामावतार और इनके द्वारा अर्चा की आराधना प्रवाहतया नित्य और अनादिकालिक है।

दैनिक-जीवन में धर्म का रूप

'धर्मस्य सूक्ष्मा गतिः' धर्म के विषय में जितनी गहराई से विचार किया जाय, उतनी इसकी शाखा-प्रशाखाएँ सामने आती जायेंगी–देशगत-धर्म, समाज-गत-धर्म, व्यक्तिगत-धर्म और सर्वोपरि कालगत-धर्म। इसी आधार पर सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग के भिन्न-भिन्न धर्म कहे गए हैं। उसी प्रकार पराधीन देशवासियों के धर्म स्वाधीन देशवासियों के धर्म से कुछ भिन्न प्रकार के होते हैं। भारत जैसे विस्तृत देश के भिन्न-भिन्न वर्णों के धर्मों में भेद होना स्वाभाविक है। इस देश के प्राचीन धर्माचार्य मनु, याज्ञवल्क्य, व्यास, वसिष्ठादि भिन्न-भिन्न काल में धर्म के कुछ-कुछ भिन्न रूपों का निदर्शन कर गए हैं। इसी देश के आर्यों के लिए अनार्यों के धर्म से भिन्न धर्म बतलाए गए हैं। पञ्चनद प्रदेश के निवासियों के धर्म से मिथिलावासियों के धर्मों में कुछ भेद रहता है। शीत-प्रदेश कश्मीर का जीवन-क्रम, बिहार, उत्तर प्रदेश, बंगाल, उत्कल आदि उष्ण प्रदेशों के निवासियों के जीवन-क्रम से भिन्न है और सदा भिन्न रहेगा।

अस्तु, परन्तु धर्म के कुछ मूल सिद्धान्त हैं जो सर्वप्रिय एवं शाश्वत् हैं। देश-काल तथा व्यक्तिभेद से धर्मों के सूक्ष्मरूप में भेद हो सकते हैं स्थूल रूप में नहीं। पराधीन देशवासियों का जीवन शासक वर्ग के इच्छानुसार अधिकतर चलता है। कुछ परवशता के कारण और कुछ अनुकरण-शीलता के प्रवाह में। शासकों की बुरी आदतों बुरी वेश-भूषा की नकल विजित देश के लोग अन्धानुकरण न्याय से किया करते हैं। हमारा देश हजारों वर्षों तक पराधीन रहने के पश्चात् पैंसठ वर्ष से स्वाधीन हुआ है, परन्तु पराधीनता ने इसे नस-नस में इतना जकड़ लिया था कि पैंसठ वर्षों के बाद भी इसके निवासियों में स्वाधीनता के लक्षण परिलक्षित नहीं हो रहे हैं। अधिकतर लोगों का जीनव पशुवत् हो रहा है। घृणित क्षुद्र स्वभाव से आक्रान्त होकर देशहित तथा समाजहित की चिन्तन से लोग दूर रह रहे हैं। चोरी, डकैती, हत्या और बलात्कार की घटनाएँ दिनानुदिन बढ़ती जा रही है। ऐसी विकट परिस्थिति में सम्प्रति भारत में धर्म का क्या स्थान रह गया है और आगे इस परिस्थिति के सुधार में क्या यत्न किया जा सकता है, इस पर विचार करना है।

भारत में धर्म-ह्रास के कारणों में से प्रधान कारण है–चिरपराधीनता। पराधीन देशवासियों में आत्म-चिन्तन की मात्रा शनैः-शनैः न्यूनतर हो जाती है। वे विजेताओं को प्रसन्न करने के यत्न में अपनी स्वाभाविक स्थिति को शनैः-शनैः भूल जाते हैं और उनका व्यवहार छद्ममय हो जाता है। वे अधिकतर पाप छिपकर करते हैं जिसका प्रायश्चित शायद नहीं किया जाता और वे निराकृत पाप कर्त्ता एवं समाज के शरीर तथा आत्मा को क्षीण-हीन बना डालता है। खुले पाप का प्रायश्चित्त आसान होता है। स्वतन्त्र देश के लोग भी पाप करते हैं; परन्तु वे खुलकर करते हैं। प्राचीन भारत में एक समय था जब लोग धर्म तथा ईश्वर से डरते थे और अज्ञानवश किये गए पापों का भी प्रायश्चित्त स्वयं समाज के समक्ष में करते थे। स्मृतिकार शङ्ख और लिखित नामक भातृद्वय में से किसी एक ने दूसरे के बगीचे का फल भूल से तोड़कर रख लिया था। भूल ज्ञात होने पर अपराधी ने राजा के पास जाकर दण्ड माँगा तो राजा ने ब्राह्मण का हाथ कटवा डाला। आज का यह दिन है, जब समाज पापों से घूल-मिलकर सड़ पच रहा है और पाप को पचा लेना बड़ी बुद्धिमानी और बहादुरी की बात समझता है। अदालतें खुली हुई हैं, जहाँ बड़े बुद्धिमान वकील वे ही समझे जाते हैं जो खुनी आतताई को

निर्दोष प्रमाणित करा देते हैं, आज जिनके पास लक्ष्मी तथा अधिकार है, वे आपाद-मस्तक पापों के कुण्ड में निमग्न रहते हुए भी त्राण के विषय में निशङ्क रहते हैं।

धर्म-बुद्धि के ह्रास का दूसरा कारण हुआ भारतवासियों का विधर्मी विजेता लोगों के सम्पर्क में चिरकाल तक रहने से देहात्मवाद के चक्र में पड़कर परलोक की सुधी भूल जाना। शनैः-शनैः अपने प्राचीन धर्म के आदर्श से च्युत होकर येन-केनोपायेन प्रचुर अर्थोपार्जन के द्वारा ऐन्द्रियिक विषयों की तृप्ति को जीवन का चरम लक्ष्य भारतवासी समझने लगे और यह प्रवृत्ति दिनानुदिन बढ़ती हुयी आज अत्यन्त चरम सीमा पर पहुँच गयी है। जहाँ जो लोग जिस पद पर या जिस व्यापार में लगे हैं। उन्हें एक मात्र चिन्ता रहती है कि किस प्रकार अधिक से अधिक धन (पैसा) बटोरा जाय। इस एकाङ्गी चिन्ता में बेचारे धर्म को कौन पूछता है। ऐसे-बेहतर लोगों के मन में यह विचार उठता रहता है कि हम जो कुमार्ग का अवलम्बन द्रव्यार्थ कर रहे हैं, उसको दूसरा कोई नहीं जानता और इस पाप का प्रायश्चित्त हम धर्मकार्य में कुछ पैसे खर्च करके कर लेंगे। वे यह भी समझते हैं कि उनके समाज तथा पड़ोस में दूसरे ऐसे बहुतेरे लोग हैं, जो अपने सत्कर्म के द्वारा समाज का मुख उज्ज्वल करते रहेंगे और उनके दुष्कर्म पर ध्यान किसी को नहीं रहेगा। इसी विचार धारा में अधिकांश लोग नित्य लगा रहेगा। इसी विचार धारा में अधिकांश लोक नित्य भगवान की आखों में धूल झोंककर पापी दुर्भर पेट के लिए और अपने बच्चों को समाज में सर्वोपरि सुखी, सुसज्जित एवं सुशिक्षित बनाने की हविश में पापकर्म किया करते हैं। लोगों की ऐसी प्रवृत्ति न तो भारतीय संस्कृति की परम्परा के अनुकूल है और न सनातन परिपाटी के अनुकूल है। भले-बुरे कर्मों का फल पृथक्-पृथक् भोगा जाता है।

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्मशुभाशुभम्।

इस सनातन सिद्धान्त को भारतवासियों को कदापि नहीं भूलना चाहिए। आज भारत के न्यायाधीश भी प्रायः न्यायासन पर बैठकर नीर-क्षीर विवेक नहीं कर रहे हैं, यह भारतीय जनता की व्यापक धारणा है। नये विधान के अनुसार जो मन्त्रीमण्डल बने हुए हैं और आगे बनेंगे, कहने के लिए उनके हाथ में जन-समूह के कल्याण का भार अर्पित किया गया है; परन्तु जिस निर्वाचन पद्धति के अनुसार वे मन्त्री चुने गए हैं उस पद्धति में सच्चे लोक-हित का काम नहीं कर सकते। अगले चुनाव में पुनः पद प्राप्ति की धून में वे मन्त्रीमण्डल की स्थापना के दिन से ही इस चिन्ता में निमग्न रहते हैं कि कैसे-कैसे विधेयक को पारित करते रहें, जिससे अधिकतर लोग उन्हें लोकोपकारी समझें और भूल-भुलैया में पडकर पुनः उन्हें वोट दें। विधान की तह में यह जन्म-जात दोष है और मतदान के रहस्य को नहीं समझने वाली भोली-भाली भारतीय जनता का पिण्ड अभिशाप से निकट भविष्य में छुटेगा–इसकी सम्भावना नहीं है।

इस विचार धारा को दृष्टि में रखते हुए कहा जा सकता है कि सम्प्रति भारतीय समाज में व्यक्तिगत चरित्र का कोई स्थान नहीं रह गया है। गड्डरिका प्रवाह से जन-जीवन चल रहा है। सर्वत्र घूस की भरमार है। पहले केवल पुलिस के लोग इसके लिए बदनाम थे, अब तो सारे अन्य विभागों के लोग भी पाप के पैसे बटोरने में व्यस्त हैं। यह जन-जीवन की एक साधारण सी बात हो गयी है। सरकारी कामों में न्यायानुकूल व्यय से कई गुना अधिक अनुचित व्यय जनता को वहन करना पड़ रहा है। व्यापारी वर्ग के लोग भी खोटी वस्तुओं को उत्तम बताकर उत्तम वस्तु की दर पर ग्राहक से अनुचित पैसे लेते हैं। सङ्क्षेप में वक्तव्य यह है कि सम्प्रति भारतीय समूह नैतिक स्तर बहुत नीचे गिर गया है और जनता में

परस्पर विश्वास उठता जा रहा है। किसको कौन कब धोखा देगा। इसकी आशङ्का बराबर बनी रहती है। सदाचार प्रचार की चर्चा बहुत चल रही है। सरकार ने भी सदाचार समिति खोल रक्खी है। भारत सेवा समाज भी यत्र-तत्र सेवाकार्य का स्वाँग रचा करता है। वास्तविक ठोस काम कहीं नहीं हो रहा है जिसका मुख्य प्रत्यक्ष कारण यह है कि शासन-सत्ताधिरूढ़ दल के मन्त्रियों तथा विधायिका के सदस्यों में येनकेनोपायेन अधिकाधिक धन उपार्जन की होड़ लगी हुई है। इससे ईर्ष्या तथा द्वेष की अग्नि बढ़ती जा रही है और देखा-देखी अन्यान्य मार्ग से धन-संग्रह की ओर लोगों की प्रवृत्ति बढ़ रही है।

इन उपर्युक्त सारे अनर्थों का एक बड़ा कारण है स्कूल, कॉलेज में शिक्षा का विकृत उद्देश्य। पाश्चात्य सभ्यता के सम्पर्क में चिरकाल तक रहने से इस देश के निवासियों ने विद्यालय का एक मात्र उद्देश्य समझ लिया है– ऐहिक सुख के लिए येनकेन मार्गेण द्रव्योपार्जन करना। इस देश में प्राचीन आदर्श था– ***'सा विद्या या विमुक्तये'*** अब इसे ऐसा पढ़िए 'सा विद्या या विभुक्तये'। हमारा प्राचीन संस्कृत साहित्य विश्व के साहित्य में लोक-परलोक कल्याण के साधन की दृष्टि से अनुपम स्थान रखता है। नीति-उपदेश का यह खजाना कहा जा सकता है; परन्तु आज दुर्दशा पराकाष्ठा पर पहुँच चुकी है। संस्कृत पाठशालाओं की संख्या नहीं के बराबर है, जिन छात्रों को अंग्रेजी स्कूल कॉलेज में धनाभाव के कारण पढ़ने का साधन नहीं होता, वे ही भूले-भटके संस्कृत विद्यालयों में प्रविष्ट होते हैं। देखिए मनुष्य के जीवन में विद्या का उद्देश्य किस अनुपम ढंग से हितोपादेश में वर्णित है—

विद्या ददाति विनयं विनयाद्याति पात्रताम्।
पात्रत्वाद् धनमाप्नोति धनाद्धर्मः ततः सुखम्।।

विद्या से मनुष्य विनयी होता है विनयी होने पर समाज में वह विश्वास-भाजन समझा जाता है। विश्वासपात्र होने पर उसे आप से आप धन-लाभ होने लगता है, धन के द्वारा धर्माचरण करता है। तब वह सुखी होता है। यहाँ पर यह बात विशेषरूप से समझने की है कि हमारे प्राचीन मनुष्य-जीवन के आदर्श में धन से सुख नहीं मिलता है ऐसा सिद्धान्त रहा है। शायद ही विश्व के किसी धर्म में यह उच्चात्युच्च आदर्श हो। इसके विपरीत बड़े-बड़े धनी-मानी, राजा-महाराजा, सेठ-साहुकार चिन्ताग्रस्त दुःखी जीवन व्यतीत करते देखे जाते हैं।

इदमद्य नया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्।।

के चक्र में उनका जीवन व्यतीत होता है। दूसरी ओर लँगोटी वाले अकिञ्चन महात्मा सुखमय जीवन व्यतीत करते देखे जाते हैं।

अर्थ से आपत्ति

अर्थवन्तं नरं नित्यं पञ्चाभिघ्नन्ति शत्रवः।
राजा चोरश्च दायाद्य भूतानि क्षय एव च।।

अर्थ—धनवान् मनुष्य पर सदा पाँच चोट करते हैं—राजा, चोर, उत्तराधिकारी, भाई-बन्धु, अन्य प्राणी तथा क्षय। इस प्रकार अर्थ को अनर्थ का मूल समझो।

अर्थानामर्जने दुःखमर्जितानां तु रक्षणे।
नाशे दुःखं व्यये दुःखधिगर्थं दुःखं भाजनम्।।

अर्थ—धन के उपार्जन में दुःख होता है, उपार्जन किये हुए धन की रक्षा में दुःख होता है, धन के नाश में और व्यय में दुःख होता है। इस प्रकार दुःख के भाजन बने हुए धन को धिक्कार है।

श्रीराम-भरत संवाद

भरत ने चित्रकूट में श्रीराम से कहा—भैया! पिताजी ने वरदान देकर मेरी माँ कैकेयी को सन्तुष्ट कर दिया। माता ने अयोध्या का राज्य मुझे दे दिया, अब मैं अकण्टक यह राज्य आपकी सेवा में समर्पित करता हूँ। आप इसका पालन करें। इस विशाल राज्य को आपके विना कोई नहीं सम्भाल सकता है। जैसे गदहे घोड़े की और अन्य पक्षी गरुड़ की चाल नहीं चल सकते, वैसे ही मुझमें भी आपके समान राज्य पालन की शक्ति नहीं है।

जिस प्रकार कोई भी पुरुष वृक्ष लगाता है, फल के लिए वह वृक्ष को सींचकर बड़ा बना देता है। अगर वृक्ष फल नहीं देता, तो वृक्ष लगाने वाले पुरुष का उद्देश्य पूरा नहीं होता है। उससे वह पुरुष अप्रसन्नता प्रकट करता है। उसी प्रकार पिताजी ने आप जैसे सर्वगुणसम्पन्न पुत्र को लोक-रक्षा के लिए उत्पन्न किया है। यदि आप राज्य का भार नहीं लेते हैं तो पिताजी का उद्देश्य व्यर्थ हो जायेगा। अत: आप अयोध्या के राज्य पद पर अभिषिक्त होकर प्रजा का पालन करें। उस समय भरतजी प्रेम-विभोर होकर विलाप करते हुए श्रीराम से राज्यपद पर अभिषिक्त होने के लिए प्रार्थना कर रहे थे। उनकी इस दशा को देखकर श्रीराम ने उन्हें सान्त्वना देते हुए कहा—भाई! यह जीवन ईश्वर के समान स्वतन्त्र नहीं है, कोई भी अपनी इच्छा के अनुसार यहाँ कुछ नहीं कर सकता। काल पुरुष को इधर-उधर खींचता रहता है।

संसार में कोई भी प्राणी प्राप्त होने वाले जन्म-मरण का उल्लङ्घन नहीं कर सकता। जो व्यक्ति किसी मरे हुए व्यक्ति के लिए बार-बार शोक करता है, उसमें भी अपनी मृत्यु को टालने का सामर्थ्य नहीं है। जिस प्रकार जाते हुए पथिकों अथवा व्यापारियों से रास्ते में खड़ा हुआ पथिक कहे कि मैं भी आपके पीछे-पीछे आऊँगा और वह उनके पीछे-पीछे जाय, उसी प्रकार हमारे पूर्वज पिता-पितमह आदि जिस मार्ग से गये हैं तथा जिससे बचने का कोई उपाय नहीं है। उसी मार्ग पर स्थित मानव किसी के लिए शोक कैसे और क्यों करता है?

जिस प्रकार नदियों का प्रवाह पीछे नहीं लौटता, उसी प्रकार ढलती हुई अवस्था फिर नहीं लौटती है। वह क्रमश: नाश की ओर ही जाती है। मानव को इन सब बातों को समझ कर आत्म-कल्याण के साधनस्वरूप धर्म में लग जाना चाहिए। हमारे पिताजी धर्मात्मा थे। उन्होंने पर्याप्त दक्षिणा देकर यज्ञों का अनुष्ठान किया था। उनके पाप नष्ट हो गए थे। अत: वे स्वर्ग चले गये। अन्य राजाओं की अपेक्षा पिताजी उत्तम आयु प्राप्त कर सत्पुरुषों से सम्मानित हो स्वर्गवासी हो गए। अत: वे शोक करने योग्य नहीं है। इसलिए भरत! तुम यहाँ से जाकर अयोध्यापुरी में निवास करो। पिताजी ने तुम्हारे लिए ऐसा ही आदेश दिया है। उन्होंने मुझे जहाँ रहने का आदेश दिया है, मैं भी वन में रहकर उनकी आज्ञा का पालन करूँगा। पिताजी के शुभ आचरणों पर दृष्टपात कर तुम भी अपने धार्मिक स्वभाव के अनुसार आत्मा की उन्नति के लिये प्रयत्न करो।

तत्पश्चात् भरत ने श्रीराम से कहा—हम लोगों के द्वारा अभिषिक्त होकर अयोध्या चलें। वहाँ देवता, ऋषि एवं पितरों का ऋण चुकायें। आज आप मेरी माता के कलङ्क को दूर करके पूज्य पिताजी को भी निन्दा से बचाइये। मैं आपके चरणों में मस्तक रखकर प्रार्थना करता हूँ। आप मुझ पर कृपा कीजिये। यदि आप मेरी प्रार्थना सुनकर अयोध्या नहीं लौटेगें तो मैं भी आपके साथ वन में ही रहूँगा। भरत ने जो शरणागति की है

अयोध्या लौटने के लिए, उससे सबों ने भरत की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

भरतजी के वचन सुनकर श्रीराम ने कहा— भरत! पिताजी का जब तुम्हारी माता कैकेयी के साथ विवाह हुआ था, तब उस समय पिताजी ने तुम्हारे नाना से कैकेयी के पुत्र को राज्य देने का वचन दिया था।

देवासुर संग्राम में तुम्हारी माता कैकेयी ने महाराज की बड़ी सेवा की, उससे सन्तुष्ट होकर राजा ने कैकेयी को दो वर-दान देने के लिए वचन दिया था। तुम्हारी माता ने उन दो वरदानों में प्रथम वर तुम्हारे लिए अयोध्या में राज्याभिषेक और दूसरा मेरे लिए चौदह वर्ष का वनवास माँगा था।

पुरा भ्रातः पिता नः स मातरं ते समुद्वहन्।
मातामहे समाश्रौषीद् राज्यशुल्कमनुत्तमम्।।

(२.१०७.३)

पिता ने तुम्हारी माता के दोनों वरदानों को स्वीकार कर लिया। उसी से मैं सीता और लक्ष्मण के साथ वन में आया हूँ। मेरा कोई प्रतिद्वन्दी नहीं है। मैं पिताजी के सत्य की रक्षा के लिए वन में वास कर रहा हूँ। तुम भी उनकी आज्ञा मानकर शीघ्र राज्य पद पर अभिषेक करा लो। तुम पूज्य पिता राजा को कैकेयी के ऋण से मुक्त करो। पिताजी को नरक में गिरने से बचाओ और माता का आनन्द बढ़ाओ।

बुद्धिमान राजागण ने पितरों के प्रति एक बात कही है, पुम् नामक नरक से उद्धार करने के कारण पुत्र कहा जाता है। पुत्र वही है जो सब प्रकार से पितरों की रक्षा करता है।

पुम्नाम्नो नरकाद् यस्मात् पितरं त्रायते सुतः।
तस्मात् पुत्र इति प्रोक्तः पितॄन् यः पाति सर्वतः।।

एष्टव्या बहवः पुत्रा गुणषन्तो बहुश्रुताः।
तेषां वै समषेतानामपि कश्चिद् गयां व्रजेत्।।

(२.१०७.१२-१३)

बहुत से बहुश्रुत और गुणवान पुत्रों की रक्षा करें। उनमें एक पुत्र भी गया की यात्रा कर देता है तो पितरों का कल्याण हो जाता है। सभी राजर्षियों ने अपने पितरों के उद्धार की कामना की है। अतः तुम भी अपने पिता का नरक से उद्धार करो। भरत! तुम ब्राह्मणों एवं माताओं को साथ लेकर लौट जाओ और मैं सीता और लक्ष्मण के साथ दण्डकारण्य में प्रवेश करूँगा। तुम मनुष्यों के राजा बनो और मैं जङ्गली पशुओं का सम्राट बनूँगा। छत्र तुम्हारे मस्तक पर शीतल छाया करे और मैं जङ्गली वृक्षों की घनी छाया का आश्रय लूँगा। शत्रुघ्न तुम्हारी सहायता में रहें और सुमित्रा कुमार लक्ष्मण मेरी सहायता करें। इस तरह हम चारो पुत्र अपने पिता राजा दशरथ के सत्य की रक्षा करें।

खिचड़ी प्रेमी प्रभु

जगन्नाथपुरी में रहने वाली एक भक्तिपरायणा महिला जो नित्यप्रति प्रातःकाल भगवान को खिचड़ी का भोग लगाया करती थी। वह प्रभु को भोग तो लगाती थी; किन्तु स्वच्छता आदि का विशेष ध्यान नहीं रखती थी। एक दिन एक सन्त ने इनको विधि-निषेध का पालन न करने के लिए बहुत फटकारा जिससे प्रभावित होकर उस दिन से वह विधिवत् स्नान करने लगी जिससे बालभोग में देर हो गई। इधर भगवान दुःखी हुए और पण्डों ने जब पट खोला तो देखा कि श्रीमुख में (प्रभु के मुँह में) खिचड़ी लगी हुई है। भगवान ने पण्डों को आदेश दिया कि मैं विधि-निषेध का पालन नहीं चाहता, केवल प्रेम चाहता हूँ। करमाबाई को उसी प्रकार मेरा भोग लगाने दो जैसे वह पहले लगाती थी। करमाबाई की दिनचर्या पुनः पूर्ववत् चलने लगी और पण्डों ने अपनी गलती स्वीकार की।

विशिष्टाद्वैत

वेदान्त दर्शन के अनुसार विशिष्टाद्वैत तत्त्व ही ब्रह्म है। अनेक जिज्ञासु ने इस पर प्रश्न किया है कि विशिष्टाद्वैत तत्त्व ब्रह्म है, इसका अर्थ क्या है? इस प्रश्न के समाधान में विशिष्टाद्वैतत्व का स्वरूप बतलाया जा रहा है—

तत्त्व तीन हैं—जड़, चेतन और ईश्वर। इनमें जड़-चेतन की दो अवस्थाएँ होती हैं–सूक्ष्म और स्थूल। प्रलयकाल में जड़-चेतन सूक्ष्मावस्था में रहते हैं और सृष्टि काल में स्थूलावस्था में।

विशिष्टाद्वैत—सूक्ष्म का अर्थ है–नामरूप के अयोग्य ***'नामरूपानर्हत्वं सूक्ष्मत्वम्'***। स्थूल का अर्थ है–नामरूप के योग्य ***'नामरूपार्हत्वं स्थूलत्वम्'***। प्रलयकाल में जड़-चेतन नाम रूप के अयोग्य होने से सूक्ष्म कहलाते हैं और सृष्टिकाल में जड़-चेतन नामरूप से युक्त होने के कारण स्थूल कहलाते हैं। प्रयलकाल में जीवात्माओं के स्थूल देव, मनुष्यादि शरीरों से रहित होने के कारण उनमें नामरूप का व्यवहार नहीं होता है। सृष्टिकाल में शरीर के माध्यम से देव, मनुष्यादि नाम तथा उनके अनुसार रूप का व्यवहार जीवात्माओं में होता है। इसी तरह सृष्टि अवस्थाओं में, जड़ पदार्थों में भी पृथ्वी, जल, तेज आदि नामों एवम् उनके रूपों से व्यवहार होता है। प्रलयकाल में वैसा व्यवहार नहीं होता है। सूक्ष्म जड़-चेतन से विशिष्ट ब्रह्म जगत् का उपादान कारण है और स्थूल जड़-चेतन से विशिष्ट ब्रह्म ही जगत् रूप कार्य है। जब पूर्वावस्था विशिष्ट पदार्थ उस अवस्था को छोड़कर उत्तरावस्था को प्राप्त करता है, तब उत्तरावस्था विशिष्ट पदार्थ कार्य और पूर्वावस्था विशिष्ट पदार्थ उपादान कारण होता है—

कार्यरूपेण परिणामयोग्यं वस्तु उपादानम्।

विशेषण दो प्रकार के होते हैं, पृथक् सिद्ध और अपृथक् सिद्ध जो विशेषण विशेष्य से अलग होकर भी रह सकता है, उसे पृथक् सिद्ध विशेषण कहते हैं। जैसी–दण्डी, कुण्डली, किरीटी आदि स्थलों में दण्ड, कुण्डल, किरीट आदि विशेषण विशेष्य से पृथक् सिद्ध माने जाते हैं। जो विशेषण विशेष्य से कभी भी पृथक् नहीं हो सकता, वह अपृथक् सिद्ध विशेषण कहा जाता है। जैसे–शिखी, लम्बकर्ण आदि स्थलों में शिखा, लम्बाकान आदि विशेषण विशेष्य से कभी भी पृथक् नहीं हो सकते हैं। अतः शिखा, लम्बाकान आदि विशेषण अपृथक् माने जाते हैं। उसी प्रकार जड़-चेतन परमात्मा के अपृथक् सिद्ध विशेषण हैं। एक क्षण भी परमात्मा से अलग होने वाले नहीं हैं।

प्रलयकाल में सूक्ष्मरूप से जड़-चेतन ब्रह्म के विशेषण होते हैं और सृष्टिकाल में स्थूल रूप से। अर्थात् सूक्ष्म जड़, चेतन और स्थूल जड़-चेतन रूप विशेषण से विशिष्ट होने के कारण ब्रह्म विशिष्टाद्वैत है। उपनिषद् प्रतिपाद्य चिदचिद् और ईश्वर ये तत्त्वत्रय ही गीता के प्रतिपाद्य विषय हैं। सप्तम अध्याय के चौथे-पाँचवें श्लोक से पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहङ्कार–ये जड़ पदार्थ अपरा प्रकृति शब्द से कहे गये हैं। शरीर रूप में जगत् को धारण करने वाले जीवात्माओं को परा प्रकृति शब्द से प्रतिपादित किया गया है। छठे और सातवें श्लोक से भगवान् ने अपरा (जड़) और परा (चेतन) इन दोनों के समुदाय रूप जगत् को उपादान कारण तथा प्रलय करने वाला एवं समस्त जगत् का आधार भी मैं ही हूँ। मुझसे परतत्त्व दूसरा नहीं है, ऐसा कहा है। इससे ब्रह्मतत्त्व सिद्ध होता है। तैत्तिरीयोपनिषद् में जो जगत् का सृष्टि, पालक और संहारक है उसी को ब्रह्म कहा है। इसी तरह पन्द्रहवें अध्याय के सोलहवें श्लोक में दो पुरुष कहे

गये हैं–क्षर और अक्षर। क्षर शब्द वाच्य जड़-प्रकृति से सम्बन्ध रखने वाले ब्रह्मा से कीटाणु पर्यन्त समस्त बद्ध जीव हैं। जीव का स्वभाव स्वयं प्रकाश रूप है। माया के सम्बन्ध से स्वयं प्रकाशत्व रूप अपने धर्म से च्युत होने के कारण बद्ध जीव क्षर शब्द से कहे गये हैं—

अचित्सम्बन्धेनस्वप्रकाशस्वभावाच्च्यवते इति क्षरः।
(वरवर मुनि स्वामी)

अक्षर शब्द से माया के सम्बन्ध से रहित जीवात्मा को कहा गया है। वह जड़-प्रकृति के परिणाम रूप मनुष्यादि शरीरों में रहने के कारण कूटस्थ हैं। उसे मुक्तात्मा कहते हैं। बद्ध और मुक्त से भिन्न उत्तम पुरुष है जिसे परमात्मा कहा गया है। वह ईश्वर जड़-प्रकृति, बद्ध जीव और मुक्त जीव–इन तीनों अन्तर्यामी रूप से प्रविष्ट होकर उन्हें धारण करता है। इसी प्रकार अन्य अध्यायों में भी ब्रह्म, जीव और जड़-प्रकृति–इन तीन तत्त्वों का प्रतिपादन किया गया है। जड़-चेतन की जो दो अवस्थायें होती हैं–सूक्ष्म और स्थूल। उनका वर्णन आठवें अध्याय के अठारहवें, उन्नीसवें एवं बीसवें श्लोकों से अव्यक्त और व्यक्त शब्द से किया गया है। अव्यक्त शब्द सूक्ष्म का और व्यक्त शब्द स्थूल का बोधक है।

नवम अध्याय के सप्तम श्लोक में भी इसका उल्लेख किया गया है। वहाँ भी भगवान ने स्पष्ट कहा है कि चराचर सभी प्राणी कल्प के अन्त में मेरे सङ्कल्प से मेरी शरीररूपा नामरूप के विभाग से रहित तम नाम से कही जाने वाली जड़-प्रकृति में लीन हो जाते हैं और उन्हीं भूत प्राणियों को कल्प के आदि में मैं रचता हूँ। सृष्टि अवस्था की स्थूल-प्रकृति को सूक्ष्मावस्था में परिवर्तित होने की प्रक्रिया 'सुबालोपनिषद्' में कही गयी है। महतत्त्व अव्यक्त में, अव्यक्त अक्षर में, अक्षर तम में लीन हो जाता है और तम परम पुरुष में एक हो जाता है।

इसी तरह प्रलय-काल में प्रकृति और पुरुष ये दोनों परमात्मा में लीन हो जाते हैं, इसका प्रतिपादन विष्णु-पुराण में किया गया है। प्रकृति पुरुष के परमात्मा में लय का अर्थ है–परमात्मा के साथ उन दोनों का विभाग के अयोग्य संश्लेष-विशेष। जैसे दूध में जल मिला देने पर जल दूध नहीं हो जाता और न दूध ही जल हो जाता। दोनों तत्त्व रहते ही हैं। उसी प्रकार सूक्ष्म जड़-चेतन परमात्मा में लीन होने पर परमात्मा के स्वरूप नहीं बन जाते, किन्तु दोनों के साथ नीर-क्षीर की भाँति विभाग के अयोग्य विशेष सम्बन्ध हो जाता है—

'प्रकृति पुरुषयोः परमात्मनिलयोनाम क्षीरेनीरस्येव विभागानर्हस्संश्लेषविशेषः' (वेदान्तदेशिक)।

उपासना दो प्रकार की

भगवान की उपासना और प्रकृति के सम्बन्ध से रहित विशुद्ध जीवात्मस्वरूप की उपासना–ये दोनों मोक्ष प्राप्ति में कारण हैं। जिसके पूर्वजन्म के अर्जित श्रेष्ठ पुण्यों के द्वारा भगवद्भक्ति के विरोधी पाप नष्ट हो गये हैं, वह भगवान् श्रीकृष्ण के चरणों में मन लगाकर उनकी उपासना करता है; परन्तु भक्तिविरोधी पापों का नष्ट करने के लिए जिसने विशेष पुण्य-सञ्चय नहीं किया है, उसे भगवान श्रीकृष्ण के चरणों में भक्ति नहीं होती है। उसके लिए द्वितीय अध्याय से छठे अध्याय तक कहा कया है कि निष्कामकर्म योग के अनुष्ठान से पापों का क्षय होता है, उससे आत्मचिन्तन रूप उपासना द्वारा आत्मा के यथार्थ स्वरूप का साक्षात्कार होता है। आत्मदर्शन काल में साधक अपनी आत्मा को

भगवान का शेष (सेवक) के रूप में अनुभव करता है। तदनन्तर उसे अपने स्वामी श्री भगवान के चरणों में भक्ति बन जाती है। इस तरह भगवद्भक्ति के विरोधी पापों के कारण जिसे भगवान् श्रीकृष्ण के चरणों में प्रीति नहीं होती है, उसके लिए आत्म-चिन्तन रूप उपासना का मार्ग उत्तम है। भगवान् ने इसी भाव को अ० १८ के ४६वें श्लोक से आरम्भकर ५५वें श्लोक तक स्पष्ट किया है। वहाँ उन्होंने कहा है कि शास्त्रविहित अपने कर्मों से ईश्वर की उपासना करे। अर्थात् निष्कामभाव से वर्णधर्म के पालन से आत्मा में निर्मलता आती है, उसे ही आत्मदर्शन होता है। आत्मदर्शन प्राप्त साधक को ब्रह्मभूत कहा गया है; क्योंकि प्राकृत-सम्बन्ध-रहित जीवात्मा ब्रह्म के समान होता है। आत्मसाक्षात्कार के बाद भगवान् की पराभक्ति प्राप्त होती है, उससे भगवान प्राप्त होते हैं। इसीलिए आत्मोपासना भी ब्रह्म प्राप्ति का साधन है। अत: अर्जुन ने भगवान् से पूछा है कि आपने सप्तम अध्याय से एकादश अध्याय तक अनन्त कल्याण गुणों एवं विभूतियों से मुक्त अपने जिस स्वरूप का वर्णन किया है तथा उपासना का जो स्वरूप बतलाया है, उसके अनुसार आपके स्वरूप की उपासना करने वाले भक्तों और अक्षर एवम् अव्यक्त विशुद्ध जीवात्मस्वरूप का चिन्तन रूप उपासना करने वाले भक्तों में कौन श्रेष्ठ है? विनाश रहित होने से अक्षर और चक्षुरादि इन्द्रियों से प्रत्यक्ष न होने के कारण अव्यक्त शब्द से जीवात्मा कहा गया है। कुछ लोगों का कहना है कि अर्जुन ने भगवान् से पूछा है कि आपको सगुण रूप की उपासना करने वाले भक्तों और अक्षर अव्यक्त अर्थात् निर्गुण स्वरूप की उपासना करने वाले भक्तों में कौन श्रेष्ठ है? इस प्रकार वह सगुण और निर्गुण उपासना का प्रश्न है; परन्तु यह उचित नहीं है; क्योंकि ब्रह्म केवल निर्गुण नहीं होता, निर्गुण का अर्थ है प्राकृत गुणों से रहित और सगुण का अर्थ है अनन्त कल्याण गुणों से युक्त। एक ही भगवान श्रीकृष्ण प्राकृत सत्त्वादि गुणों से रहित होने के कारण निर्गुण तथा अनन्त कल्याण गुणों से परिपूर्ण होने के कारण सगुण हैं।

भगवान ने कहा है कि मैं अव्यक्त रूप से समस्त जगत् में व्याप्त हूँ—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।

(गी०–९.४)

वह अव्यक्त स्वरूप भी निर्गुण नहीं कहा जा सकता है; क्योंकि जब अनन्त कल्याण गुणों से परिपूर्ण भगवान श्रीकृष्ण ही अव्यक्त रूप से हैं, फिर वे निर्गुण कैसे हो गये? भगवान चतुर्भुज देवरूप में हों, द्विभुज मनुष्य रूप में हों या अव्यक्त रूप में हों उन सबों में अनन्त कल्याण गुण रहते ही हैं। अत: भगवान् का अव्यक्त स्वरूप निर्गुण कैसे कहा जा सकता है? गीता में दो ही प्रकार की उपासना कही गयी है। जिनका वर्णन पूर्व में कर दिया गया है। अगर अर्जुन का सगुण-निर्गुण उपासना का प्रश्न होता तो वह स्पष्ट प्रश्न में यह कह देता—

एवं सततयुक्ता ये सगुणं त्वामुपासते ।
निर्गुणं चापि ये केचित् तेषां के योगवित्तमाः ।।

परन्तु उन्होंने निर्गुण शब्द का प्रयोग नहीं किया है। अत: सगुण-निर्गुण उपासना सम्बन्धी भाव बतलाना ठीक नही है।

जीवात्मा का वर्णन अक्षर और अव्यक्त शब्द से गीता में अनेक स्थलों पर किया गया है। इसलिए यहाँ अव्यक्त और अक्षर शब्द प्रकृति के सम्बन्ध से रहित विशुद्ध जीवात्मस्वरूप का बोधक है। प्रसङ्गानुकूल यही अर्थ उचित भी है।

भगवान दुःखी क्यों होते हैं?

जगत् के सारे मानव सुख के लिए परेशान हैं। सन्त, विद्वान्, वैज्ञानिक, राजनेता, व्यावसायिक, कृषक आदि सवों का मनोभाव सुखी बनने का ही रहता है। सब लोग अहर्निश परिश्रम उसके लिए ही करते रहते हैं। भले ही सुखी बनने के लिए किए गए प्रयत्न प्रारब्धवश दुःख के रूप में परिणत हो जाये। जैसे–एक व्यक्ति ने अपने पुत्र को एस० पी० के साक्षात्कार में भेजा। उसकी नियुक्ति की तिथि निश्चित हो गई। वह समय के अनुसार अपने काम पर जा रहा था कि उसकी मृत्यु हो गई। ध्यान दें, उस व्यक्ति का सुखी बनने वाला प्रयत्न दुःख के रूप में परिणत हो गया। इस तरह अज्ञानी जीव न चाहकर भी दुःखी हो जाता है; परन्तु परमात्मा अवाप्त समस्त काम (सब चीजों से परिपूर्ण) है। उन्हें कर्मानुसार प्रारब्ध से, उस भाग का सम्बन्ध है नहीं, फिर दुःखी क्यों होता है? यद्यपि मन, वाणी के अगोचर, इन्द्रियातीत, अनन्त-कल्याण, गुणनिधि तथा परमानन्द स्वरूप परमात्मा के सम्बन्ध में यह निर्णय करना कठिन है कि कमोवेश शरीर धारण करने वाले जीवों के समान भगवान भी दुःखी होते हैं; परन्तु वात्सल्य, सौशील्य, सौलभ्य आदि गुणों के कारण भक्त के प्रेम-वश इस धरातल पर ब्रह्म अनेक बार अवतरित हुए हैं। उन अवतारों में बहुविध दिव्य लीलाएँ हुई हैं। उन लीला क्रम में कभी शास्त्रानुसार दुःखभरी लीलाएँ भी दृष्टि-पथ पर आई हैं। उन्हीं दुःखमय लीलाओं के अवलोकन से यह समझा जाता है कि भगवान भी दुःखी होते हैं। इस जगत् में भगवान के दस अवतार प्रसिद्ध हैं, जिनमें मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम की लीलाएँ विश्व-विख्यात हैं। यहाँ पर भगवान के दुःखी होने का प्रसङ्ग प्रस्तुत किया जा रहा है—

(१) भगवान श्रीराम ब्रह्म थे—

राम ब्रह्म व्यापक जग जाना।
परमानन्द परेस पुराना।।

वे वन में श्री वसिष्ठ जी से पिता के मरने के समाचार सुनकर शोक-सन्तप्त हो गये—

नृप कर सुरपुर गवन सुनावा।
सुनि रघुनाथ दुसह दुःख पावा।।

(२) राक्षसराज रावण के द्वारा सीता के हरण किए जाने पर श्रीराम अत्यन्त विकल हो गए। सीता विरह से व्यथित श्रीराम उनका पता पशु, पक्षी, वृक्षों एवं लता आदि से पूछते चल रहे थे। प्राकृत कामी पुरुष के समान उनमें बेचैनी आयी हुई थी—

एहि विधि खोजत वलपत स्वामी।
मनहुँ वहा विरही अति कामी।।

(३) जटायु सीता को हरणकर ले जाते हुए रावण से हताहत हो गए। रघुनन्दन श्रीराम सीता का अन्वेषण कर रहे थे। उनकी दृष्टि जटायु पर पड़ी। जटायु ने द्रवित होकर प्रभु से कहा—

नाथ दसानन यह गति किन्ही।
तेहि खल जनक सुता हरि लीन्ही।।

गीधराज जटायु की आर्तभरी वाणी को सुनते ही प्रभु ने गले से लगा लिया और शोक सन्तप्त पृथ्वी पर गिरकर रोने लगे—

गृधराजं परिष्वज्य परित्यज्य महद्धनुः।
निपपातावशो भुमौ रुरोद सहलक्ष्मणः।।

समाधान—भगवान लोक विलक्षण औदार्य गुण युक्त हैं। वे अपने भक्त को अपनी आत्मा के समान मानते हैं। जो स्त्री, पुत्र, धन आदि की

ममता छोड़कर परमात्मा के चरणाश्रित हो जाता है, भक्त-वत्सल भगवान वैसे भक्त के दु:ख से दु:खी हो जाते हैं और भक्त के सुखी होने से वे भी सुखी हो जाते हैं। यहाँ प्रथम विभीषण का प्रसङ्ग स्मरणीय है।

रावण से तिरस्कृत होकर विभीषण ने भगवान श्रीराम के चरणों में आकर कहा कि मैं अपने सभी मित्रों, धन, स्त्री, लङ्का को छोड़कर आया हूँ। अब मेरा राज्य, जीवन, सुख आपके ही अधीन है। विभीषण के वचन सुनकर श्रीराम ने अपने शीतल नेत्रों से प्रेमपूर्वक देखा और उन्हें अपने हृदय में लगाकर लङ्का के राज्य पद पर अभिषिक्त कर दिया।

तदनन्तर भगवान श्रीराम यह विचार कर चिन्तित हो गए कि मैंने इसे लङ्का का राजा तो बना दिया; परन्तु वहाँ का अधिपति राक्षसराज रावण विशेष बलवान है।

जब रावण मारा गया और पुन: लङ्का में विभीषण के राज्याभिषेक की विधि सम्पन्न हुई तब श्रीराम कृतकृत्य, दु:ख मुक्त और आनन्दमग्न हो गए। इसीलिए मूल रामायण में कहा गया है—

अभिषिच्य च लङ्कायां राक्षसेन्द्रविभीषणम्।
कृतकृत्यस्तदारामो विज्वरः प्रमुमोद ह।।

इस प्रमाण से स्पष्ट है कि विभीषण के दु:ख से श्रीराम दु:खी थे और उनका दु:ख नष्ट हो जाने पर श्रीराम भी सुखी हो गए।

भगवान अवाप्त समस्तकाम होने के कारण अत्यन्त कष्टप्रद परिस्थिति में भी दु:खी नहीं होते। यह बात श्रीराम के राज्याभिषेक के प्रसङ्ग से स्पष्ट हो जाती है। श्रीराम के अभिषेक की तैयारी हो रही थी। अयोध्या के सब लोगों की मानसिकता थी कि रघुनन्दन श्रीराम को राजगद्दी पर बैठे हुए हमलोग शीघ्र दर्शन करें। वे सब श्रीराम के अलौकिक शील-स्नेह आदि गुणों का गान करते हुए एक विशेष मनोरथ भी प्रकट कर रहे हैं—

को रघुवीर सरसि संसारा।
सील सनेहुँ निवाह निहारा।।
जेहि-जेहि जोनि करम बस भ्रमहीं।
तहँ-तहँ ईसु देख यह हमहि।।
सेवक हम स्वामी सिय नाहू।
कोउ तात यह ओर निबाहू।।
अस अमिताब नगर सब काहू।

उस समय सरस्वती से प्रेरित होकर कैकेयी राजा दशरथ से श्रीराम के लिए अयोध्या के राज्य के स्थान पर चौदह वर्ष के लिए वनवास का वरदान माँगती है। वनवास की बात सुनकर राजा मूर्छित हो जाते हैं। कैकेयी सुमन्त द्वारा श्रीराम को बुलवाकर उनसे चौदह वर्ष वनवास की बात कहती हैं। श्रीराम प्रसन्न होकर कहते हैं कि माताजी इस छोटी-सी बात के लिए पिताजी को क्यों कष्ट दिया। यह मुझसे कहतीं तो मैं ही मान लेता। वन में मुझे विशेष आनन्द मिलेगा—

मुनिगन मिलनु विशेष वन सबहि भाँति हित मोर।
तेहि महँ पितु आयसु बहुरि संमत जननी तोर।।

यहाँ राम तत्त्व के प्रत्यक्ष द्रष्टा महर्षि वाल्मिकि ने भी कहा है कि अप्रिय तथा मृत्यु के समान कष्टप्रद वचन सुनकर भी शत्रुसुदन श्रीराम व्यथित नहीं हुए—

तदप्रियमनार्याया वचनं दारुणोदयम्।
श्रुत्वा गतव्यथो रामः कैकयीं वाक्यमब्रवीत्।।

भगवान के भजन में भावना प्रधान है। जो मानव जिस भावना से उनका भजन करता है भगवान उसके अनुकूल उसे फल देते हैं। कौसल्या-दशरथ ने कठिन तप कर भगवान नारायण से पुत्र

रूप में आने का वरदान माँगा था। इसलिए नारायण दशरथ के पुत्र रूप में आये थे वहीं श्रीराम नाम से प्रसिद्ध हुए।

श्रीराम ब्रह्मभाव तिरोहित कर मानवीय भाव प्रदर्शित करते थे। इसलिए मर्यादा पुरुषोत्तम थे। जगत् में वैदिक धर्म की शिक्षा देना भी उनका अवतार का मुख्य उद्देश्य था। अत एव 'पितृदेवो भव' इस वैदिक वाक्य के अनुरूप श्रीराम अपने पिता की आज्ञा का पालन करते थे। माता-पिता के आदेश से उन्होंने वन का राज्य स्वीकार किया। वन में पिता दशदथ की मृत्यु का समाचार सुनकर श्रीराम को दु:खी होना लोक मर्यादा के अनुरूप था। जिस पिता से पुत्र का महान उपकार होता है उसके वियोग (मरन) में पुत्र का दु:खी होना उचित ही है।

सीताजी श्रीराम की पत्नी थी, पत्नी अर्द्धाङ्गिनी होती है। पति का कर्त्तव्य होता है सदा पत्नी की रक्षा करना एवं अध्यात्मिक कर्म में अपने साथ रखना। नारद के शाप आदि के विशेष कारण वश सीता-हरण हुआ। श्रीराम एवं लक्ष्मण के संरक्षण में रहती हुई सीता महारानी का वियोग श्रीराम के अन्दर असह्य वेदना प्रकट कर दिया। यह भी मानवीय मर्यादा के अनुकूल है। सीताजी श्रीराम की परम सेविका थीं। महान कष्ट सहन करती हुई भी वन में उनकी सेवा में संलग्न रहीं। लङ्का में रहती हुई सीता अपने मन को सदा भगवान श्रीराम के चरणों में समर्पित रखती थीं। भक्त के दु:ख से भगवान दु:खी होते हैं। इस नियम के अनुसार भी सीताजी के दु:ख में श्रीराम को दु:खी होना स्वाभाविक है।

जटायु गीध थे। वे एक बार उड़ान ले रहे थे, उसी समय राजा दशरथ ने शनि ग्रह पर चढ़ाई की थी। सबल होते हुए भी थोड़ी-सी भूल के कारण राजा दशरथ पर शनि ग्रह का प्रभाव पड़ गया वे मूर्च्छित होकर आकाश से गिरते आ रहे थे। जटायु ने उन्हें अपने पंख पर बैठाकर धीरे-धीरे नीचे लाया और राजा को अयोध्या पहुँचा दिया। उसी समय जटायु से दशदथ की मैत्री हुई थी। इसलिए जटायु ने पंचवटी में श्रीराम से अपने परिचय में कहा था कि मैं आपके पिता का मित्र हूँ—

उवाच वत्स मां विद्धि वयश्यं पितुरात्मनः ।

किसी समय आप लक्ष्मण सहित पर्णशाला से बाहर जाएँगे तो मैं देवी सीता की रक्षा करूँगा। इसीलिए श्रीराम और लक्ष्मण की अनुपस्थिति में देवी सीता को हरण कर ले जाते हुए रावण से जटायु का घोर युद्ध हुआ, जिसमें रावण द्वारा जटायु के पङ्ख काट दिये गये। पङ्ख कटने के कारण जटायु का अन्त हुआ। राजा दशरथ की भाँति उनके मित्र जटायु भी श्रीराम पर विशेष स्नेह रखते थे।

राजा दशरथ ने श्रीराम के वियोग में शरीर छोड़ा, किन्तु जटायु ने सीता को बचाने में श्रीराम के लिए अपने जीवन की आहुती दे दी। प्रभु श्रीराम के लिए जो अपना जीवन तक समर्पित कर दिया उस जटायु के लिए श्रीराम ने विशेष दु:ख प्रकट किया और अपने हाथों वैदिक रीति से श्राद्धकर्म करके जटायु को वैकुण्ठ भेज दिया। यह श्रीराम के लिए सर्वथा मर्यादा के अनुकूल है। दु:खी भक्त के लिए दु:ख प्रकट करना तथा उसके दु:ख को मिटाकर स्वयं सुखी बन जाना ये भगवान का विशेष गुण है।

श्रीराम की केवट पर कृपा

(परमपदी अनन्तश्री स्वामी पराङ्कुशाचार्य जी की पुस्तक से)

चरण कमल रज कहुँ सब कहई ।
मानुष करनि मूरि कछु अहइ ।।
छुअत सिला भइ नारि सुहाई ।
पाहन ते न काठ कठिनाई ।।
तरनिउ मुनि धरिनी होई जाई ।
बाट परइ मोरि नाव उड़ाई ।।
एहि प्रति पालेऊँ सबु परिवारु ।
नहिं जानऊँ कछु अउर कबारु ।।
जौ प्रभु पार अवसि गा चहहू ।
मोहि पद पदुम पखारन कहहू ।।
पदकमल धोई चढ़ाइ नाव न नाथ उतराई चहौं ।
मोहि राम राउरि आन दशरथ सपथ सब साची कहौं ।।
बसतीर मारहुँ लखन पै जब लगि न पॉय पखारिहौं ।
तब लगि न तुलसीदास नाथ कृपालु पार उतारिहौं ।।
सुनि केवट के बैन, प्रेम लपेटे अटपटे ।
बिहसे करुना ऐन, चितइ जानकी लखन तनु ।
कृपासिन्धु बोले मुसुकाई ।
सोई करु जेहि तव नाव न जाई ।।

श्रीरामचन्द्र जी जङ्गल जाते समय जब शृङ्गवेरपुर पहुँचे हैं और गङ्गा पार जाने के लिए निषादराज से नाव माँगते हैं, उसी समय के प्रेमोद्‌गार की उपरोक्त चौपाई दोहे हैं।

भगवान श्रीराम से निषादराज कहता है— भगवान! आपके चरण कमल की धूली को लोग मनुष्य बनाने की मूरि (जड़ी-बूटी) कहते हैं। प्रत्यक्ष प्रमाण में पत्थर की शिला (शापित ऋषि पत्नी अहल्या) सुन्दर स्त्री बन गई तो काठ की मेरी नाव पत्थर से कठिन तो नहीं है? यदि कहीं यह भी मुनि पत्नी बन गयी तो सार्वजनिक आवागमन अवरुद्ध हो जायेगा और मेरी जीविका मारी जायेगी। मैं अन्य कोई दूसरा उद्यम नहीं जानता, अत: मेरी सभी परिवार भूखे मरेंगे। इसलिए हे प्रभो! यदि आप अवश्य पार जाना चाहते हैं तो पहले मुझे अपने चरण-कमल धोने की आज्ञा दें।

प्रभु, इसलिए कहता हूँ कि आप राजा के पुत्र हैं, सामर्थ्यशाली हैं यदि चाहें तो गङ्गा को तैरकर या सुखाकर भी पार जा सकते हैं; किन्तु मर्यादा पुरुषोत्तम के नाते इसको सुखाकर या लाङ्घकर भी आप नहीं जा सकते। गङ्गा आपके पूर्वजों के उद्धारक हैं अत: नाव से ही आप पार जा सकते हैं। श्रीराम सत्यप्रतिज्ञ हैं इसलिए लौट भी नहीं सकते, ऐसा समझकर वह कहता है कि 'जौ प्रभु पार अवसि गा चहहू। मोहि पद०' खेवाई भी नहीं लेना चाहता है; किन्तु पैर धोना अवश्य चाहता है। अपने कथन को सत्य प्रमाणित करने के लिए शपथ भी कर रहा है। निषादराज यह भी जान रहा है कि इस समय गङ्गा पार करने में जो खटपट लगा रहा हूँ वह लखन-लाल को असह्य हो रहा होगा; क्योंकि भगवान के मन के प्रतिकूल कार्य इन्हें असह्य होता है, यही तैजस इनका स्वभाव है। मैं इनकी प्रजा हूँ। विना कहे इन्हें मुझे पार कर देना उचित था, किन्तु कहने पर भी जो अगर-मगर कर रहा हूँ वह अवश्य उन्हें क्रोधित कर रहा होगा। अत: वह यह भी कहता है कि 'बस तीर मारहुँ लखन पै०' हे नाथ! इस अवसर पर मेरी अड़चनों से क्रोधित हो लखनजी यदि मुझे बाण भी मारेंगे तो भी चरण धोये बिना मैं पार नहीं करूँगा।

अपना स्वामी होने से नाथ और इतना हठ करने पर भी क्षमाकर रहे हैं, अत: कृपालु शब्द निषाद उच्चारण कर रहा है। यही कृपालु शब्द सुनकर भगवान् हँसते हैं। 'बिहसे करुना ऐन' निष्प्रयोजन तथा असङ्गत बोलने को अट-पट कहते हैं। यही अटपट यहाँ निषाद कर रहा है; क्योंकि यदि पाँव धोना ही था तो चुपचाप धो लेता। काठ

की नाव में भ्रम था तो थाली में ही धो लेता सो नहीं कर झंझट कर रहा है, अहल्या का उदाहरण देता है। यह भी सुना ही होगा कि 'मुनि शाप जो दीन्हा' इस प्रकार उसकी नाव शापित तो नहीं थी? पग धूरि को मानुष करनि मूरि कहता है और नाव को पत्थर से कोमल बताता है, किन्तु काठ से भी कोमल मिट्टी तृणादि श्रीराम जी के चरणों या चरणधूलि का स्पर्श पाकर मुनि पत्नी नहीं बन गये, तो काठ की बात ही क्या? रास्ता बन्द होने की बात उपस्थित करता है—याने दीन हीन एक ही नाव का नाविक हूँ ऐसा सूचित करता है।

किन्तु यही निषाद भरतजी को गङ्गा पार करने के समय ***'रात ही रात घाट की तरनि'*** और ***'चार दण्डमहँ भा सब पारा'*** यह तो मल्लाहों का मुखिया था। इसके पास बहुत-सी नावें थीं इसी से सबों को एक ही बार में पार कर दिया। यहाँ तो रास्ता बन्द की बातें करना, नाव खेना छोड़ दूसरा कोई उद्यम नहीं जानता यह बहाना करना, उतराई नहीं लेने की बात कह उनको प्रसन्न करने की चेष्टा करना जो कोई धन कृपण के लिए उपयुक्त था।

शपथ स्वयं या स्वकीय परिवारों को लेकर नहीं रखता, किन्तु दशरथ को ही रखता है ये सब बातें उलटी-पुलटी हैं। इसलिए अटपट की बातें हैं। निषादराज का कथन अटपट होते हुए भी प्रेम से लिपटा हुआ है। किसी वस्तु को सर्वत्र से बाँधने को लपेटना कहते हैं। निषाद के अटपट वचनों के प्रेम ही वेष्टित किए हुए हैं।

'चितई जानकी लखन तनु' का भाव है कि श्रीराम जी जानकी तथा लक्ष्मण को यह सूचित करते हैं कि तुम लोग यह देखो—

नर सहस्र महँ सुनहुँ पुरारी।
कोई एक होहिं धरम व्रतधारी।।
धर्मशील कोहिन्ह महँ कोई।
विषय विमुख विराग रत होई।।
कोटि विरक्त मध्य श्रुति कहई।
सम्यक् ज्ञान सुकृति कोई लहई।।
ज्ञानवन्त कोहिन्ह महँ कोई।
तिन सहस्र महँ सब सुख खानी।
दुर्लभ ब्रह्मलीन मुनि ज्ञानी।।
धर्मशील विरक्त अरु ज्ञानी।
जीवमुक्त ब्रह्म पर प्राणी।।
सबसे सो दुर्लभ सुर राया।
रामभक्त रत गत मद माया।।

ज्ञानी, धर्मात्मा, विरक्त एवं भगवत्परायण में किसी एक को भी भक्ति मिलना कठिन है। वही निषाद मुनि दुर्लभ भक्ति का अधिकारी बनना चाहता है। कहाँ से इसकी अटपटी बोली और कहाँ वह पराभक्ति, किन्तु आज इस पग को धोने के बहाने से इसका अधिकारी बनना चाहता है। आज तक ब्रह्मा, जनक या तुम दोनों ही इसके अधिकारी थे; किन्तु यह सभी परिवारों के साथ उस अधिकार को स्वयं प्राप्त करना चाहता है, जो किसी को पुरुषकार किये बिना नहीं मिलता है। भगवान निर्हेतुकी कृपा प्राणियों के ऊपर किया करते हैं। अतः स्वयं जानकी और लक्ष्मण को केवट की शरणागति में पुरुषकार बनने के लिए प्रेरित कर रहे हैं। अथवा नियमानुकूल केवट को शरणागत बनाने में पुरुषकारी इन दोनों से अनुमति चाह रहे हैं कि तुम लोग शेष और लक्ष्मी दिव्य होने के कारण अनादिकालिक हमारे पग के अधिकारी हो; किन्तु यह प्रकृति पुरुष होते हुए भी तुम सबों का हिस्सेदार बन दिव्य बनना चाहता है। अतः अपनी अनुमति प्रदान कर इसको अङ्गीकार करना चाहिए।

प्रथम जानकी शब्द और पीछे लखन शब्द का प्रयोग किया गया है। इसका भाव यह है कि उक्त प्रसङ्ग में निषाद लखन जी के सम्बन्ध में यह कहा है कि ***'बस तीर मारहि लखन पै०'*** इससे परम

भागवत लखन जी के प्रति वाचिक अपराध कर चुका है; क्योंकि बिना तमोगुण के हिंसादि कार्य नहीं हो सकता तो लखनलाल में तमोगुण और घातक दोनों दोष लगा दिया है। ऐसी परिस्थिति में भगवान ने सोचा कि हमारी कृपा तो इस पर है ही, किन्तु भागवत अपराधी को कैसे स्वीकार करूँ, इसलिए मातृगुण गौरवता प्रधान जानकी जी को पहले कहा और तब आचार्यगुण गौरवता प्रधान लखन को पीछे। भाव यह है कि जानकी जी को अपराध क्षमा करवाने के लिए इङ्गित कर रहे हैं और लखन जी को अपराध क्षमा करने के लिए। भगवान दोनों के मुखारविन्द को देखकर विहँसे। इससे यह भी सिद्ध होता है कि दोनों पुरुषकारी निषाद के अपराध को क्षमा कर दिये, जिससे अत्यन्त प्रसन्न होने के कारण श्रीराम जी हँस रहे हैं। अथवा प्रेमलपेटे अटपटे वैन सुन, जानकी लखन तनु और करुणा अयन केवट के चित्त में विहँसे। यदि जानकी यह सूचित करती हैं कि लखनलाल यह भगवान के स्वभाव को तो देंखे कि एक तो निर्हेतुकी कृपा द्वारा ही निषाद को दर्शन दिये, किन्तु वह अटपटे ही बोल रहा है, फिर भी उसका कृपालु आदि शब्द सुनकर उसे अपनाना चाहते हैं, यह भी उसका भाव हो सकता है। निषाद के हृदय में प्रेम था, वह मानसिक सेवा हुई। कृपालु कहकर कृपागुण वर्णन द्वारा वाचिक सेवा की और पाँव धोकर कायिक सेवा करना चाहता है। निषाद के वचनों को सुनकर भगवान हँसे, यह जानकी जी लखन को सूचित करती हैं कि देखो! भगवान के जिस मुख-मुस्कान को देखने के लिए ब्रह्मा, रुद्रादि लालायित रहते हैं और वह प्राप्त नहीं होता, वही आज इस केवट को प्राप्त हो रहा है। अत: यह बड़भागी है। जानकी लखन को सूचित करती हैं कि शेषी परमात्मा शेष वस्तु (जीव) को अङ्गीकार कर रहे हैं।

'करुणा अयम्' इसलिए कहा गया है कि योगी, मुनि तथा मनस्वियों को सतत भगवत्प्राप्ति का प्रयास करने पर भी स्वप्न में भी भगवान नहीं मिलते; किन्तु घर बैठे सभी परिवारों के साथ इस क्षुद्र हिंसक जाति को दर्शन दे कृतार्थ कर रहे हैं। कारण, शब्द का प्रयोग करने में यह भी हेतु है कि निषाद ने श्रीराम जी से यह कहा—***'यहीं घाट ते थोरिक दूर अहै कटिलौ जल थाह बताइहों जू'***।

यदि आपको पाँव धुलवाना स्वीकार नहीं हो, तो यहाँ से थोड़ी ही दूर पर कटि मात्र जल है जिसे मैं बताता हूँ, आप पार हो जायें। मालूम पड़ता है कि भगवान को यहाँ से हटाना चाहता है, किन्तु इसके उपर भगवान का इतना प्रेम है कि इससे अपमानित होते हुए भी नहीं छोड़ रहे हैं। बल्कि हँसते हुए कहते हैं—***'सोइ करू जेही तब नाव न जाई'*** तुम वही काम करो जिससे तुम्हारी नाव न उड़ जाये।

जानकी और लखन की ओर श्रीराम जी को देखने का यह भी भाव है कि ब्रह्मा जी तो अपनी पवित्रता तथा गङ्गा की उत्पत्ति के लिए पाँव धोया था। जनक ने कन्यादान के प्रसङ्ग में पाँव धोया था। किन्तु इसे तो इन सबों का कोई प्रयोजन नहीं, अत: पैर धोने में इसके हृदय में कुछ दूसरा ही भाव है। या ब्रह्मा ने जो पाँव धोया उससे यह गङ्गा निकली, किन्तु इस गङ्गा से इसे तृप्ति नहीं, जिससे इसे यह अवहेलना कर रहा है, इसमें इसे विश्वास नहीं, तब तो पुन: पाँव धोना चाहता है। यदि ऐसा हुआ करे तो गङ्गा का महात्म्य ही नष्ट हो जायेगा। अत: एक ओर तो यह सङ्कोच और दूसरी ओर इनके प्रति प्रेम का सङ्कोच, ऐसी परिस्थिति में मैं क्या करूँ यही अनुमति चाहते हैं। ***(क्रमश:)***

चिन्तन की धारा

(क) जगत् में छोटे-बड़े, नीचे-ऊँचे, अधम-उत्तम जितने भी जड़-चेतन प्राणी हैं, सबमें भगवान् भरे हैं, सभी भगवान् से ओत-प्रोत हैं। उनकी आकृति-प्रकृति में, खान-पान में, व्यवहार-बर्ताव में चाहे जितना भेद हो, पर उन सबके अन्दर नित्य समभाव से विराजमान रहने वाले भगवान् में तनिक भी भेद नहीं है।

(ख) जो मनुष्य इन सर्वस्वरूप, सर्वव्यापी, सर्वात्मा भगवान् की ओर देखता हुआ जगत् में व्यवहार करता है, उसके व्यवहार में यथायोग्य व्यावहारिक विषमता रहने पर भी मन में कोई विषमता नहीं रहती। वह समता में स्थित होकर वैसे ही विषम व्यवहार करता है, जैसे मनुष्य आत्मरूप से सर्वत्र समान देखता हुआ भी अपने ही हाथ से दूसरे प्रकार का व्यवहार करता है और पैर से दूसरे प्रकार का; परन्तु उसके मन में हाथ या पैर किसी के प्रति राग-द्वेष नहीं रहता है। दोनों में ही समान आत्म-बुद्धि है। इसलिए व्यवहार कैसा भी हो, उससे जान-बूझकर न हाथ का अपमान या अहित होता है और न पैर का ही। उसी प्रकार उस मनुष्य के द्वारा किसी का अपमान या अहित नहीं होता।

(ग) जो मनुष्य मन में विषमता रखता है, अनेक प्रकार से भेद-बुद्धि रखता है; परन्तु बाहर सबको समान बताकर सबके साथ समान बर्ताव करना चाहता है, उसका यह साम्यभाव कभी सफल नहीं होता; क्योंकि भिन्न-भिन्न स्वभाव वाले विभिन्न प्रकार के प्राणियों से सभी प्रसङ्गों में समता का व्यवहार सम्भव ही नहीं है। बुद्धिमान तथा श्रेष्ठ विचार वाले पुरुषों के प्रति जितने आदर का व्यवहार होगा, उतना मूर्ख और नीच विचार वाले पुरुषों के साथ नहीं होगा। कुत्ते, गाय और हाथी के साथ किसी भी क्षेत्र में एक-सा व्यवहार सम्भव नहीं है। साँप-बिच्छू के साथ वैसा व्यवहार आप नहीं कर सकते; जैसा गाय, बकरी के साथ करते हो; परन्तु व्यवहार में विषमता रखते हुये भी आप आत्मरूप से सबमें समान भाव रख सकते हैं। भगवत् रूप से मन ही मन सबको पूज्यनीय मानते हुए उनका सत्कार करते हैं।

(घ) भीतर की समता ही सच्ची समता है; क्योंकि उसके प्राप्त होने पर राग-द्वेष का, अपने-पराये का सर्वथा अभाव हो जाता है। फिर सभी में समभाव से भगवद् बुद्धि रहती है, सभी के प्रति समान भाव से श्रद्धापूर्वक सेवा का आचरण होता है। किसी का बुरा करने की बात मन में आ ही नहीं सकती। कहीं किसी से कोई हानि हो भी जाती है तो भी मन में वैसे ही उनपर क्रोध नहीं होता जैसे दाँतों से जीभ कट जाने पर दाँतों पर क्रोध नहीं होता।

●

वैष्णव आगमों में निष्काम-कर्मयोग

ब्रह्मवाद के नाम पर वर्णाश्रम-विधान की समस्त क्रियाओं का लोप करने वाले व्यक्ति लोक कण्टक ही हैं। धर्म-कर्म-विहीन व्यक्ति पाप का ही अनुसेवन करते हैं। ब्रह्मज्ञत्व के अभिमान से धर्म-कर्म-बहिर्मुख हुए ऐसे व्यक्ति कहते हैं कि 'ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है और यत: जगत् मिथ्या है, अत: शुभाशुभ कर्म क्यों करे। ऐसे दुराशय व्यक्ति ब्रह्मवाद के विलास से अपना ज्ञानीपन बघारते हैं। वे वास्तविक ज्ञान से हटकर धर्मोच्छेद का ही उद्यम करते हैं।

प्रबुद्ध के कर्म बताते हुए आगम तत्व प्रथमत: प्रबोध का स्वरूप स्पष्ट करता है। बातों का शब्दमात्र का प्रबोध वास्तव नहीं है, साक्षात् प्रबोध होने पर देह तत्काल विलीन हो जाता है। शब्द-प्रबोध परमार्थ नहीं है, वह संसार-मोह का नाश करने में भी सक्षम नहीं है। दीपक की बात करने से अँधेरा कभी नहीं मिटता। जो व्यक्ति शब्दबोधमात्र से नित्य-नैमित्तिक कर्म छोड़ देता है, वह प्रत्यवायी है और उसे बोध नहीं होता।

अत: धर्म-कर्म-परायण होकर कृष्ण का ही अनुसेवन करने वाले कृष्ण के प्रिय होते हैं। यह कृष्ण भक्ति की वासना का लक्षण है। 'वैष्णवतन्त्र' के मत में भगवद्विरह की अग्नि में पड़कर देह का जल जाना ही आत्म-बोध है, अन्य सब तो शाब्द-बोध मात्र है। पारमेश्वर-संहिता नित्य कर्मरत भक्तों की महिमा तथा नित्य-नैमित्तिक कर्मों की आवश्यकता प्रतिपादित करती है। क्रिया-लोप से मनुष्य पतित हो जाता है। इसी प्रकार अज्ञानपूर्वक किये हुए कर्म से तथा कर्म का अनादर करने से भी पतन होता है।

परम संहिता के अनुसार शास्त्र-दृष्ट नित्यकर्म ही भागवतों का आचार है। अत: धर्मोक्त नित्यकर्म निरालस होकर सप्रयत्न करते रहना चाहिए। नैमित्तिक कर्म सविधि वर्ष पर्यन्त करने पर उन्हें श्रीविष्णु सायुज्य प्रदान करते हैं। कर्मों के सम्बन्ध में कोई निश्चय नहीं होने पर अर्थात् किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाने पर भगवत्प्रपन्न हो जाना चाहिए। यही शास्त्र का निर्देश है। धर्मरूप कर्म के द्वारा आराधित देव जन्मान्तर में भी उपद्रव-नाश और सम्पत्ति-संवर्धन करते हैं। प्रभु की कृपा के बिना इन्द्रियों पर नियन्त्रण नहीं हो सकता, अत: देव की शरण में जाओ।

महानिर्वाण तन्त्र का कथन है कि फल प्रापक कर्म शुभ और अशुभ दो प्रकार के होते हैं। अशुभ कर्म से तीव्र पीड़ा प्राप्त होती है। फलासक्तिपूर्ण शुभ कर्म भी आवागमन की शृङ्खला में बाँध देता है। शुभाशुभ कर्म सोने और लोहे के पाश हैं; क्योंकि मोक्ष ज्ञान से ही होता है और ज्ञान-प्राप्ति के लिये कर्म-नाश होना अत्यन्त आवश्यक है, अत: इन दोनों पाशों-शुभाशुभ रूप कर्मों का क्षय हुए बिना निर्बन्धता (मोक्ष) की प्राप्ति नहीं हो सकती।

ज्ञानमयी निष्कर्मता

महानिर्वाण तन्त्र में कहा है कि निष्कामियों को मोक्ष होता है—***अकामानां पदं मोक्षः।*** निष्काम कर्म का फल अनन्त निर्वाण है, जबकि सकाम कर्म का फल क्षीण होने वाला होता है। शास्त्रों ने कर्म-विधान चित्त शुद्धि के लिये किया है। किन्तु यहाँ स्मरणीय है कि ब्रह्म-ज्ञान और संन्यास के बिना कभी मुक्ति नहीं हो सकती। 'महानिर्वाणतन्त्र' ने अपने इस सिद्धान्त को अपनी साधना-विधि में अवतरित किया है। कहा है कि भैरवी-चक्र से जागतिक उपलब्धियाँ होती हैं तथा उपासक मृत्युञ्जय हो जाता है और इसका नित्य अनुष्ठान करने वाला

महानिर्वाण को प्राप्त हो जाता है, यह भोग और मोक्ष दोनों का साधन है; किन्तु चक्रराज है 'तत्त्व-चक्र' यह सब चक्रों में श्रेष्ठ दिव्य चक्र है। इसके अधिकारी शुद्धान्तःकरण ब्रह्मोपासक ही हैं, जो सर्वप्राणि-हित-रत रहते हैं और जो तत्त्वविद् चराचर को ब्रह्ममय देखते हैं। ऐसा व्यक्ति सब कुछ ब्रह्मार्पण करके ब्रह्ममय कर्म की समाधि से ब्रह्म में ही लीन हो जाता है—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना।।

इससे स्पष्ट है कि तान्त्रिक साधना की सर्वोपरिता ब्रह्मार्पित, ब्रह्मार्थ, ब्रह्मज्ञया, ब्रह्ममय कर्म करने में है। ऐसा कर्म को ही निष्कामकर्म या नैष्कर्म्य भी कहा गया है। इस निष्कामकर्म की चरम अवस्था सर्व-संन्यास में प्राप्त होती है, जब साधक समस्त कर्मों को होम कर विदेह हो जाता है, अपने शरीर को मृतवत् समझ लेता है—

चतुर्विंशति तत्त्वानि कर्माणि दैहिकानि च।
हुत्वाग्नौ निष्क्रियं देहं मृत्वच्चिन्तयेत् ततः।।

ऐसे निष्कामकर्म के अनुष्ठान से या तत्त्व-विचार से विज्ञानी, निर्मल स्वभाव-साधकों में ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। तब समस्त चराचर में एक ही सत्य परब्रह्म का अवस्थान जानकर वह कर्म-बन्धन से छुटकर नित्यसुख का भोग करता है। तब विश्व की सेवा परमात्मा की ही अर्चा हो जाती है—

एकेमेव परं ब्रह्म जगदावृत्य तिष्ठति।
विश्वार्चया तदर्चा स्यात् यतः सर्वं तदन्वितम्।।

यदि कोई साधक यह अवधारणा कर ले कि सब कुछ ब्रह्ममय है, तो किसी भी देवता की पूजा करके और सकाम कर्म करके भी वह ब्रह्मलीनता को प्राप्त कर लेता है; क्योंकि इस प्रकार उसका कर्म निष्काम तथा ज्ञानरूप हो जाता है, उसका कर्म करना या न करना दोनों एक ही हो जाते हैं।

बृहद्ब्रह्मसंहिता में ज्ञानाधृत निष्काम कर्मयोग की भक्ति उन्मुखता का सम्यक् प्रतिपादन हुआ है। शब्द-ब्रह्म की समाराधना करने पर ब्रह्म की प्राप्ति होती है। प्रणवाभ्यासपूर्वक हरिध्यानरूप साधन ही भक्ति है। भक्ति के द्वारा मानव की गति साम्यमयी हो जाती है। वह पुण्य और पाप का चिन्तन करके तथा उपाधिरहित होकर परम साम्य को प्राप्त होता है। तदनन्तर भक्ति कैवल्यभाव को अनन्य चित्त होकर जो नित्य भगवत्-स्मरण करता है, उस नित्ययुक्त योगी के लिये भगवान सुलभ हो जाते हैं और उसका भगवान से नित्य-संयोग होता है। जो व्यक्ति भगवान के अतिरिक्त अन्य किसी विश्व सुख को नहीं जानता और गुण-त्रय-विवर्जित महालीला रस को जानता है, वही मुक्त है।

भगवान को नमस्कार करना भी एक प्रकार से निष्कामकर्मी हो जाना है। 'म' का अर्थ है–ममत्व और 'न' का अर्थ है–उसका निषेधी। अतः नमः का अर्थ हुआ–ममत्व को सम्पूर्णतया त्यागकर भगवान् के शरणागत हो जाना। नमः के पाँच पर्याय हैं—यह पूर्वोक्त अर्थ–ममत्व त्याग, न्यास, प्रपत्ति, शरणागति और आत्मयिक। आत्मार्पक शरणागत में सकामता कहाँ रहेगी? आगे स्पष्ट कहा गया है कि वैष्णवजन आत्म-लाभ के लिये कर्तृत्वफल संयोग का त्याग कर याग किया करे।

निष्कर्मता का अर्थ कर्म-त्याग नहीं है। कर्म-त्याग भगवान का आदेश भी नहीं है। देहधारी कर्मरहित रह ही नहीं सकता। आत्म-सिद्धि के लिये भी लोक संग्रह, अर्थात् विवेकपूर्ण लोकाचार अनिवार्य है। जो व्यक्ति लोक-संग्रह का ध्यान नहीं रखता, वह भगवद्धर्म का उल्लङ्घन करता है। लोकाचार-पथ की रक्षा यत्नपूर्वक आदेहपात करनी ही चाहिये। इसलिये भगवान स्वयं भी कर्म का त्याग नहीं करते। आचार मुख्य धर्म है।

वेद-पुराण-आगम मार्ग में भगवत्प्राप्ति के साधन-कर्म, ज्ञान और उपासना है। जो कर्म कर्तृत्व के अभिमान से या फल के उद्देश्य से किया जाता है, वह कर्मियों के लिये बन्धनकारी होता है। वह अज्ञानजन्य कर्म ब्रह्मात्मक नहीं है, उसका फल दुष्ट, क्षर और जन्मकारी होता है। अत: भगवान के स्वरूप का ध्यान रखते हुए और अपने को प्रकृति-संयोग के कारण बद्ध, अल्पज्ञ असुखात्मक जानकर अविद्या-कर्म की शान्ति के लिये जीव नारायण की आज्ञा से नित्य नैमित्तिक कर्म करता रहे। अपने वर्ण के अनुसार प्राप्त कर्म करे, अन्य कर्मों से निवृत्त हो जाय। नारायणात्मक कर्म कर्मबन्धनिवर्तक है। वह ज्ञान के समान है, अत: मुमुक्षुओं के द्वारा सदा सेव्य है। इष्टापूर्त्त कर्म निष्काम लक्षण हैं। ऐसे कर्म भगवान् के उद्देश्य से ही करने चाहिये।

संसार में ऐसा कोई नहीं है, जो श्रीहरि के बिना कोई भी चेष्टा कर सकता हो। चिदचिदात्मक सब उन्हीं के प्रकाश से प्रकाशित हैं। अत: आत्मा में और सब में ब्रह्मात्म-भावना करे। कर्तृत्व, कर्म-ममत्व और फल-संयोग का त्यागकर ब्रह्मात्मक कर्म करे। ऐसा कर्म ज्ञानरूप होता है। इसे देह-स्थितिपर्यन्त व्यापी वासुदेव के स्वरूप का चिन्तन करते हुए करना चाहिये।

●

सम्पत्ति मेरी नहीं है!

अखिल ब्रह्माण्ड के स्वामी श्रीमन्नारायण की इच्छा से यह जगत् बना है और उन्हीं जगन्नियन्ता परमात्मा की इच्छा से इस संसार की सारी व्यवस्थाएँ चल रही है।

मानने की दो शक्तियाँ—प्रभु ने सभी स्त्री-पुरुषों को मानने वाली साधना करने के लिये दो शक्तियाँ दी है–विवेक और विश्वास।

विवेक—विवेक का आशय उस शक्ति से है, जिसके द्वारा आप कुछ बातें भली-भाँति जानते हैं। इन बातों में आपको किसी भी प्रकार का सन्देह नहीं है। यदि आप सद्ग्रन्थों का अध्ययन करेंगे अथवा सन्त और भक्त-वाणी को पढ़ेंगे तो उनमें भी आपको वही बातें मिलेंगी, वे भी आपकी जानी हुई बातों का समर्थन करेंगे। आप जिन बातों को जानते हैं, उन बातों को मानने अथवा न मानने में आप एकदम स्वाधीन हैं। उन बातों को मानना 'विवेक का आदर' और न मानना 'विवेक का अनादर' कहलाता है। यदि आप उन सभी बातों अथवा उनमें से किसी एक बात को मान लें तो तत्काल आपको अपने जीवन का लक्ष्य प्राप्त हो जायेगा।

आप किन बातों को जानते हैं?—विवेक के प्रकाश में विचार करने पर आपको पता चलेगा (स्पष्ट अनुभव होगा) कि आप निम्नलिखित बातों को भली-भाँति जानते हैं—

(क) कामनापूर्ति में पराधीनता—अपने जीवन में कामना रखना, कामना करना आपके वश की बात है, किन्तु कामना को पूरी कर लेना आपके वश की बात नहीं है। कामना पूर्ति में आप पूर्णतया पराधीन हैं। यदि कामनापूर्ति में आप स्वाधीन होते हो आप अपनी सभी कामनाएँ पूरी कर लेते। कामना की आपूर्ति ही आपके क्रोध, दु:ख, चिन्ता, भय, तनाव आदि मन के रोगों का मूल कारण है, कामना के कारण ही आप संसार में अटक-भटक एवं उलझ गये और प्रभु से विमुख हो गये। जिस क्षण आप इस बात को मानेंगे–'अब मैं

अपने जीवन में किसी भी प्रकार की कामना नहीं रखूँगा' उसी क्षण आपका दु:ख सदैव के लिये सर्वांश में मिट जायेगा; आपको शान्ति-मुक्ति-भक्ति तथा भगवान मिल जायेंगे।

(ख) शरीर, परिवारजन, सम्पत्ति 'मेरी' नहीं है—इस विशाल संसार की रचना करने वाले, बनाने-चलाने और सञ्चालन करने वाले आप नहीं हैं, इसके मालिक आप नहीं हैं। आपको ऐसा महसूस नहीं होता कि संसार की सम्पूर्ण सम्पत्ति मेरी है। लेकिन इस विशाल संसार की तीन चीजों को आप 'मेरी' वा 'अपनी व्यक्तिगत धरोहर' मानते हैं–शरीर, परिवार के सदस्य, निजी सम्पत्ति। इसी का नाम है–ममता, मोह। संसार की जिन चीजों को आपने 'मेरा' मान लिया, उसके वियोग एवं बिगड़ने का भय तथा उनकी प्रतिकूलता ही आपके दु:ख का मूल कारण बन गयी। उनका बिगड़ना, नाश होना, वियोग निश्चित है। इन तीनों की ममता ने आपको जगत् में बाँध दिया, प्रभु को भुला दिया। इन तीनों को आपने नहीं बनाया है, इन्हें आप जैसा चाहें वैसा और जब तक चाहें तब तक नहीं रख सकते हैं, इन पर आपका लेशमात्र भी नियन्त्रण नहीं है–ये बातें आप भली-भाँति जानते हैं। ये तीनों चीजें आपको मिली हैं, किसी ने सौंपी हैं। वस्तुओं एवं सम्पत्ति को सम्भालकर रखना, शरीर-स्वजनों की यथाशक्ति सेवा करना, सांसारिक दृष्टि से आपका 'धर्म या कर्त्तव्य' है और आस्तिक दृष्टि से अपने प्यारे प्रभु की पूजा है। आप कर्त्तव्य का पालन और प्रभु की पूजा कीजिये। जिस क्षण आप इस बात को मानेंगे—शरीर, परिवार जन, सम्पत्ति और व्यक्तिगत मेरी सामग्री नहीं है—उसी क्षण आपको जीवन का लक्ष्य प्राप्त हो जायेगा।

मैं शरीर नहीं हूँ—दो पक्ष एकदम अलग-अलग होते हैं–पहला मेरा कहने वाला अथवा देखने वाला और दूसरा, जिसे वह मेरा कहता है अथवा जिसे वह देखता है। शरीर तथा इन्द्रियों के लिये सभी व्यक्ति यही कहते हैं–यह मेरा शरीर है, मेरी आँखें, मेरे कान, मेरा पेट आदि, कोई यह नहीं कहता है कि मैं शरीर, मैं आँख, मैं कान, मैं पेट आदि हूँ। यह नियम है कि कहने वाला सदैव उससे अलग है जिसे वह मेरा कहता है। आप कहने वाले हैं, आप शरीर नहीं हैं। आपने एक पौधे को उगते हुए, बढ़ते हुए, फूलते हुए, फलते हुए, सूखते हुए और नष्ट होते हुए देखा। आप यहाँ पौधे को देखने वाले हैं, जिसे आपने देखा है वह आपसे अलग है। आपने जिस शरीर का वचपन देखा, यौवन देखा, बुढ़ापा देखी, आपने जिस शरीर का सम्मान और अपमान देखा, जिस शरीर को स्वस्थ एवं रोग-ग्रस्त देखा, आप जिस शरीर के परिवर्तन को निरन्तर देख रहे हैं, वह शरीर आप से अलग है, आप देखने वाले हैं।

यह नियम है कि देखने वाला सदैव उससे अलग होता है जिसे वह देखता है। जिस क्षण आप यह मानेंगे कि मैं शरीर नहीं हूँ, उसी क्षण आपको यह अनुभूति होगी कि मैं परमात्मा का अंश हूँ। परमात्मा ही मेरे अपने हैं, उन्हीं के साथ मेरा नित्य सम्बन्ध है। जो जन्मता या बनता है, बढ़ता है, बदलता है, बिगड़ता है, मरता है या नष्ट होता है, सदैव एक जैसा नहीं रहता है।

सृष्टिकर्त्ता परब्रह्म परमात्मा श्रीहरि परम दयालु, कृपालु और समदृष्टि वाले हैं। ऐसा होने पर भी उनकी सृष्टि में कोई सुखी है, कोई दु:खी है, कोई दु:खहारी परोपकारी है तथा कोई क्रूर अत्याचारी है–इस प्रकार की विषमता का क्या कारण है? तथा प्राय: सारी सृष्टि पर भयानक सङ्कटों के पहाड़ क्यों टूट रहे हैं; क्यों घोर पीड़ाओं की भीषण तरङ्गे उछल रही है? इस प्रकार की विलक्षण स्थिति उत्पन्न होने का क्या करण है? ऐसे प्रश्न सहज ही उपस्थित हो सकते हैं।

सूक्ष्मबुद्धि से तथा शास्त्रदृष्टि से विचार करें तो परब्रह्म परमात्मा श्रीहरि तो आनन्द स्वरूप ही हैं। उनको क्रीड़ा करने की इच्छा हुई। क्रीड़ा अकेले में हो नहीं सकती थी, इसलिये उन्होंने विविध प्रकार की सृष्टि आनन्द देने और आनन्द लेने के लिए रच ली, सृष्टि के जीव व्यवस्था का पालन करके इस लोक में सुख भोगें तथा परलोक में सदा-सर्वदा आनन्द प्राप्त कर सकें, इसके लिए जगत् के कर्त्ता परमात्मा ने अपना स्वरूप, सनातन धर्म, प्रकट करके वेद-शास्त्र के द्वारा आज्ञा-आदेश प्रदान कर उद्धार का अनुपम मार्ग दिखला दिया। जीव जब तक वेद-शास्त्र की आज्ञा के अनुसार चला, तब तक स्वर्ण से भी बढ़कर सुख इस संसार में भोग सका; परन्तु जब भगवद् आज्ञा का भङ्ग (उच्छेद) या अवहेलना करके मनमानी रीति से चलने लगा, तब दु:ख-दारिद्रय, अन्नाभाव, असह्य मँहगी, युद्ध-विप्लव, रोग क्लेश आदि महा सङ्कट आ उपस्थित हो गये, जिसे आप सब लोग प्रत्यक्ष देख और अनुभव क रहे हैं। अब हमको विचार करना है कि उस सर्वोद्धारक ईश्वर स्वरूप सनातन धर्म का स्वरूप क्या है?

सनातनधर्म का भव्य और दिव्य सिद्धान्त— जिसके आधार पर सचराचर विश्व टिका है तथा सारे लोक नियम में स्थित है एवं जो इहलोक में सुख, शन्ति और आनन्द प्रदान कर परलोक में परम पद अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति कराता है, वह एकमात्र सनातन धर्म ही हैं। यह सनातन धर्म ईश्वर-स्वरूप हैं; क्योंकि यह स्वयं ईश्वर के द्वारा प्रवर्तित है। जिस प्रकार ईश्वर का आदि-अन्त नहीं है, अर्थात् वह अनादि है, प्राचीन–से–प्राचीन है, सदा एक-सा चला आ रहा है, उसमें कभी परिवर्तन या विकार नहीं होता। इसी कारण वह सनातन धर्म कहलाता है। यह धर्म ईश्वर निर्मित है, अत एव ईश्वर ही इसका स्वामी है। आसुरी वृत्ति के स्वार्थी नास्तिक और निरङ्कुश लोग जब-जब सनातन धर्म या उसके अङ्गरूप वेद शास्त्र की मर्यादा, वर्णाश्रम, भक्तजन, सतीस्त्रियाँ, गौ तथा धर्म के सिद्धान्तों पर आघात्-प्रत्याघात् करते हैं और धर्म परायण लोग दु:ख और उत्पीड़न के शिकार बनकर आर्तनाद करके पुकार उठते हैं, तब-तब जगन्नियन्ता ईश्वर अजन्मा होने पर भी अवतार लेकर सनातन धर्म की, धर्मज्ञान की तथा गौओं की रक्षा करके दुष्ट अधर्मियों को दण्ड देकर पुन: धर्म की संस्थापना करते हैं। अब सनातन धर्म सिद्धान्तों की उत्कृष्टता पर विचार कीजिए—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत् ।।

'प्राणी मात्र सुखी रहें, सब निरोग रहें, सबका कल्याण हो, कभी किसी को दु:ख न हो'।

मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु लोष्टवत् ।
आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः ।।

'जो पर-स्त्री को माता के समान, परद्रव्य को मिट्टी के ढेला के समान और प्राणिमात्र को अपनी आत्मा के सामन देखता है, वही ठीक देखता है'।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।

'ईश्वर प्राणिमात्र के हृदय में विराजमान हैं'।

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम् ।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ।।

'यह अपना है पराया–ऐसा विचार छोटी बुद्धि वाले मनुष्य का होता है; परन्तु विशाल हृदय वाले मनुष्य के लिए तो सारा जगत् ही अपना कुटुम्ब है'।

संसार के सब लोगों के लिए इस प्रकार श्रेष्ठ सद्भावना के कारण सनातन धर्म ही सार्वभौम धर्म अथवा मानव-धर्म अर्थात् विश्व का उद्धार करने वाला धर्म है और उसका अनुसरण करके मानव

मात्र कृतार्थ हो सकता है। सामान्य और विशेष धर्म-सनातन धर्म के अन्तर्गत सामान्य धर्म और विशेष धर्म-निरूपण किये गये हैं–धैर्य, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय निग्रह, सहनशीलता, विद्या, सत्य और अक्रोध–ये मनु महाराज द्वारा कथित दश सामान्य धर्म के लक्षण हैं। इनका आचरण सब जाति, धर्म या राष्ट्र के लोग कर सकते हैं; परन्तु विशेष धर्म जो वेद में तथा श्रीमद्भगवद्गीता में साक्षात् परब्रह्म परमात्मा श्रीकृष्ण ने चारों वर्णों के लिए निरूपण किये हैं, वे अत्यन्त रहस्यमय विशुद्ध धर्म केवल हिन्दुओं के लिए ही अपने-अपने वर्ण के अनुसार पालनीय है और उनका पालन करके हमें अपनी-अपनी संस्कृति का, धर्म का, देश का तथा मानव मात्र का उत्कर्ष और उद्धार करना है।

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः ।
उरुतदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यांशुद्रो अजायत ।।

'भगवान् नारायण के मुखारविन्द से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय, ऊरु से वैश्य और चरणों से शुद्र उत्पन्न हुए'।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्धयकर्तारमव्ययम् ।।

'भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि गुण और कर्म के विभाग के अनुसार चार वर्णों का मैंने सृजन किया है। उनके कर्त्ता मुझ अविनाशी परमेश्वर को तुम अकर्त्ता ही जानो'।

इसी प्रकार लोशों के श्रेय और प्रेय के लिये ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास नामक चार आश्रमों की अनुपम व्यवस्था की गयी है। ब्राह्मण ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए ऋषिकुल में रहकर ब्राह्मण ब्रह्मचर्याश्रम धर्म का आचरण करे तो उसको ज्ञानबल, तपोबल, उपासनाबल तथा योगबल से ब्रह्म-साक्षात्कार हो जाता है। फिर सम्पूर्ण जगत् उसकी आज्ञा में रह सकता है। वह ब्राह्मण द्विजवर्ण के बालकों को अपने घर आश्रम में सदाचारी बनाकर अधिकार के अनुसार बिना एक पैसा भी लिए उन्हें निःशुल्क विद्यादान कर सकता है। ऐसा होने पर आज कल के निर्माल्य कर्मचारी तैयार करने वाली शिक्षापद्धति के पिछे जो प्रतिवर्ष करोड़ों रुपये खर्च हो रहे हैं, वे बच सकते हैं। माता-पिता फीस के भारी बोझ से और स्वेच्छाचारिता के भारी डर से बच सकते हैं।

क्षत्रिय धर्मशास्त्र, राजनीति तथा अस्त्र-शस्त्र सञ्चालन का ज्ञान प्राप्त करें तो धनुर्वेद तथा शक्ति-सामर्थ्य से राज्य और प्रजा का रक्षण करके उच्छृङ्खल और अत्याचारी लोगों को कठोर दण्ड देकर देश में सुख-शान्ति का प्रसार का सकते हैं। इससे सेना के प्रबन्ध में जो करोड़ों अरबों रुपये प्रतिवर्ष खर्च हो रहे हैं, वे बच सकते हैं। वैश्य यदि धर्मवाद तथा राजनीति के साथ उद्योग-व्यवसाय, खेती-बारी तथा गाय के रक्षण-पोषण का कार्य करके प्रचुर धन कमायें और फिर उस धन का उपयोग जहाँ-तहाँ न करके धर्मात्मा ब्राह्मणों के वेदाभ्यास में तत्त्वज्ञान के शोधन तथा प्रयोग के महत् कार्य में विद्यालयों, पाठशालाओं, धर्मशालाओं, अन्नक्षेत्रों, मन्दिरों, कूप-तड़ागों, बावड़ियों, गोशाला, अग्नि-होत्र, होम-हवन, सनातन धर्म तथा हिन्दुओं की रक्षा में उपयोग करें तो सनातन धर्म का पुनः उदय हो जाय और शुद्र तीनों वर्णों की सेवा करने के साथ-साथ शिल्प-विद्या के अनुसार नाना प्रकार के गृह उद्योग अपने-अपने घर चलायें तो दारिद्रय तुरन्त दूर हो जाय।

आप शान्त एवं प्रसन्न रहें

आपके जीवन में शारीरिक रोग, वृद्धावस्था, मृत्यु, अपमान, हानि, दुर्घटना आदि के रूप में प्रतिकूल परिस्थितियाँ आयेंगी। अब यह आप पर निर्भर है कि आप उस प्रतिकूल परिस्थिति में दु:खी हों अथवा दु:खी न होकर शान्त एवं प्रसन्न रहें। किसी भी प्रकार की प्रतिकूलता में यह शक्ति नहीं है कि वह आपको दु:खी बना दे। वास्तविकता यह है कि आप अपनी ही भूल से दु:खी होते हैं। आपके जीवन में प्रतिकूलता दो प्रकार से आयेगी—

(क) दिखायी नहीं देगा—कुछ प्रतिकूलतायें इस प्रकार से आयेंगी कि आपको यह पता नहीं चलेगा कि वे कैसे आ गयीं, उन्हें किसने भेजा है? उन्हें देने या भेजने वाला आपको दिखायी नहीं देगा। जैसे–शरीर में स्वत: रोग पैदा हो जाना, भयङ्कर स्वप्न आना, चलते-चलते गिर जाना, सम्पूर्ण सावधानी के बावजूद दुर्घटना घटित हो जाना, मृत्यु हो जाना, भूकम्प से हानि हो जाना आदि।

(ख) दिखायी देगा—कुछ प्रतिकूलतायें इस प्रकार से आयेगी कि उन्हें देने वाला साफ-साफ दिखायी देगा। जैसे–किसी व्यक्ति ने आपका अपमान कर दिया, चोट मार दी, धक्का दे दिया, सामान की चोरी कर ली, हानि पहुँचा दी आदि।

जब आपके जीवन में अपने आप कोई प्रतिकूलता आती है, उसे भेजने वाला कोई दिखायी नहीं देता तब तो आप किसी पर क्रोध नहीं करते हैं। लेकिन जब प्रतिकूलता को देने वाला दिखायी दे जाता है तब आप उस पर क्रोध करते हैं, द्वेष करते हैं, संघर्ष करते हैं और सोचते हैं कि अमुक व्यक्ति ने मुझे दु:ख दिया है। यह आपकी बहुत बड़ी भूल है। जब तक आप किसी अन्य को पति, पत्नी, संतान, भाई, बहन, सास, बहू, परिवारजन, मित्र, रिस्तेदार, समाज और संसार का कोई इंसान, प्राणी और परमात्मा को अपने दु:ख के लिये दोषी मानेंगे तब तक आप क्रोध, द्वेष, कलह, संघर्ष आदि से मुक्त नहीं हो सकेंगे और इन विकारों से होने वाली सब हानियाँ आपको होती रहेंगी।

सच्चाई यह है कि आपके दु:ख का मूल कारण आपकी अपनी भूल है। वह भूल है–विवेक का अनादर करके 'शरीर' को 'मैं' मान लेना; मिले हुए शरीर, परिवारजनों और सम्पत्ति को 'मेरी' अर्थात् अपनी व्यक्तिगत धरोहर मानकर उनसे सुख लेने की आशा रखना तथा यह सोचना–मानना कि इनसे मुझे शान्ति, मुक्ति, भक्ति मिलेगी, अपने में कामना रखकर अपने को पराधीन बना लेना और प्रभु विश्वास के आधार पर उनके द्वारा भेजी गयी प्रतिकूलता में उनकी कृपा एवं अपने हित का दर्शन न करना। जब तक आपके जीवन में यह भूल रहेगी तब तक आपका दु:ख नहीं मिटेगा। जिस क्षण आप इस भूल को मिटा देंगे, उसी क्षण आपके जीवन का दु:ख मिट जायेगा।

धन का सदुपयोग विधान

धर्माय यशसेऽर्थाय कामाय स्वजनाय च। पञ्चाविभजनन्वितमिहामुतकामोदते।। (भागवत)

प्रथम भाग धर्म में, दूसरा भाग यश के काम में, तीसरा भाग धन को बढ़ाने में, चौथा भाग भोग में और पञ्चम भाग परिवारों में बाँटकर खर्च करे। अतएव शुक्राचार्य ने वलि से कहा है कि अपने द्वारा उपार्जित सम्पत्ति को पाँच भाग में बाँटकर खर्च करने से मनुष्य लोक और परलोक दोनों में सुखी रहता है।

श्री वैष्णवव्रत निर्णय तालिका

मास	पक्ष	तिथि	दिन	दिनाङ्क	व्रतनाम
चैत्र	शुक्ल	१२	सोमवार	२२-०४-२०१३	कामदा
वैशाख	कृष्ण	१२	सोमवार	०६-०५-२०१३	वरुथिनी
वैशाख	शुक्ल	११	मङ्गलवार	२१-०५-२०१३	मोहिनी
ज्येष्ठ	कृष्ण	११	मङ्गलवार	०४-०६-२०१३	अचला
ज्येष्ठ	शुक्ल	१२	गुरुवार	२०-०६-२०१३	निर्जला
आषाढ़	कृष्ण	१२	गुरुवार	०४-०७-२०१३	योगिनी
आषाढ़	शुक्ल	११	शुक्रवार	१९-०७-२०१३	विष्णुशयनी
श्रावण	कृष्ण	११	शुक्रवार	०२-०८-२०१३	कामदा
श्रावण	शुक्ल	११	शनिवार	१७-०८-२०१३	पुत्रदा
भाद्रपद	कृष्ण	११	रविवार	०१-०९-२०१३	जया
भाद्रपद	शुक्ल	११	रविवार	१५-०९-२०१३	पद्मा
आश्विन	कृष्ण	११	सोमवार	३०-०९-२०१३	इन्दिरा
आश्विन	शुक्ल	११	मङ्गलवार	१५-१०-२०१३	पापाङ्कुशा
कार्त्तिक	कृष्ण	११	बुधवार	३०-१०-२०१३	रम्भा
कार्त्तिक	शुक्ल	११	बुधवार	१३-११-२०१३	प्रबोधिनी
मार्गशीर्ष	कृष्ण	११	शुक्रवार	२९-११-२०१३	उत्पन्ना
मार्गशीर्ष	शुक्ल	११	शुक्रवार	१३-१२-२०१३	मोक्षदा
पौष	कृष्ण	११	शनिवार	२८-१२-२०१३	सफला
पौष	शुक्ल	११	शनिवार	११-०१-२०१४	पुत्रदा
माघ	कृष्ण	११	सोमवार	२७-०१-२०१४	षट्तिला
माघ	शुक्ल	११	सोमवार	१०-०२-२०१४	जया
फाल्गुन	कृष्ण	११	मङ्गलवार	२५-०२-२०१४	विजया
फाल्गुन	शुक्ल	११	बुधवार	१२-०३-२०१४	आमलकी
चैत्र	कृष्ण	११	गुरुवार	२७-०३-२०१४	पापमोचनी

श्रीरामनवमी	चैत्र	शुक्ल	९	शुक्रवार	१९-०४-२०१३
नृसिंहचतुर्दशी	वैशाख	शुक्ल	१४	शुक्रवार	२४-०५-२०१३
श्रीकृष्णजन्माष्टमी	भाद्रपद	कृष्ण	९	गुरुवार	२९-०८-२०१३
श्रीवामनद्वादशी	भाद्रपद	शुक्ल	१२	सोमवार	१६-०९-२०१३
श्रीभाष्यकार जयन्ती	वैशाख	शुक्ल	५	बुधवार	१५-०५-२०१३
श्रीस्वामी पराङ्कुशाचार्य जयन्ती	फाल्गुन	शुक्ल	१३	शुक्रवार	१४-०३-२०१४

गृहारम्भ-मुहूर्त्त

१. वैशाख-शुक्ल-दशमी सोमवार दिनाङ्क २०-०५-२०१३ को दिन में ११:३० से १:४३ तक।
२. वैशाख-शुक्ल-द्वादशी बुधवार दिनाङ्क २२-०५-२०१३ को दिन में ११:२० से १:३३ तक (भूमिशयन परिहारपूर्वक)।
३. वैशाख-शुक्ल-त्रयोदशी गुरुवार दिनाङ्क २३-०५-२०१३ को दिन में ११:१६ से १:१९ तक।
४. वैशाख-शुक्ल-पूर्णिमा शनिवार दिनाङ्क २५-०५-२०१३ को दिन में ११:८ से १:२१ तक।

●

गृहप्रवेश-मुहूर्त्त

१. वैशाख-शुक्ल-दशमी सोमवार दिनाङ्क २०-०५-२०१३ को दिन में ११:३० से १:४३ तक।
२. वैशाख-शुक्ल-द्वादशी बुधवार दिनाङ्क २२-०५-२०१३ को दिन में ११:२० से १:३३ तक।
३. ज्येष्ठ-कृष्ण-दशमी सोमवार दिनाङ्क ०३-०६-२०१३ को रात्रि में ७:३२ से ९:३७ तक।

●

द्विरागमन-मुहूर्त्त

१. **पश्चिम से पूर्व नैऋत्य से ईशान अग्नि से वायव्य कोण के लिए—**
वैशाख-कृष्ण-षष्ठी बुधवार दिनाङ्क ०१-०५-२०१३ को दिन में ८:१० से १०:२४ तक।
२. **पश्चिम से पूर्व के लिए—**
वैशाख-कृष्ण-सप्तमी गुरुवार दिनाङ्क ०२-०५-२०१३ को प्रात: ६:१२ से ६:३९ तक।
३. **दक्षिण से उत्तर नैर्ऋत्य से ईशान कोण—**
वैशाख-कृष्ण-द्वादशी सोमवार दिनाङ्क ०६-०५-२०१३ को प्रात: ६:०० से ७:५२ तक।

●

असुर का स्वरूप

एक सन्त किसी समय अपने अनुयायी के समीप बैठे थे। अचानक एक दुष्ट मनुष्य वहाँ आया और वह उस व्यक्ति को दुर्वचन कहने लगा, जो मनुष्य सन्त के पास बैठा था। उस सज्जन पुरुष ने कुछ देर तो उसके कठोर वचन सहे, किन्तु अन्त में उसे भी क्रोध आ गया और वह भी उत्तर देने लगा। यह देखकर सन्त उठ खड़े हुए। तब वह व्यक्ति बोला—जब तक यह दुष्ट मुझे गालियाँ दे रहा था, तब तक तो आप बैठे रहे और जब मैं उत्तर दे रहा हूँ तो आप उठकर क्यों जा रहे हैं?

सन्त बोले—जब तक तुम मौन थे, तब तक तो तुम्हारी ओर से देवता उत्तर देते थे, किन्तु जब तुम बोलने लगे तो तुम्हारे भीतर देवताओं के बदले क्रोध आ बैठा। क्रोध तो असुर है और असुरों का साथ छोड़कर चल ही देना चाहिए, इसलिए मैं जा रहा हूँ।

●

सद्गृहस्थ भी मुक्ति के अधिकारी होते हैं

जगत् में चार आश्रमों का उल्लेख शास्त्रों में किया गया है। ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम और संन्यासाश्रम–इनमें कुछ सम्प्रदाय वालों ने यह निर्णय दिया है कि संन्यासियों को ही मोक्ष होता है; परन्तु अपने वैष्णव सम्प्रदाय में वैदिक प्रमाणों से संन्यासियों की भाँति गृहस्थ भी मोक्ष के पात्र होते हैं ऐसा माना गया है। भगवद्भक्ति करने वाले श्रीवैष्णव वह संन्यासी हो या गृहस्थ सब मुक्ति प्राप्त करते हैं, भगवद्भक्तों को मुक्ति में तब तक बिलम्ब है जब तक प्राकृत शरीर नहीं छूट जाता। प्राकृत शरीर छूटते ही गृहस्थ श्रीवैष्णव भी भगवान श्रीमन्नारायण का सायुज्य मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

'तस्य तावदेव चिरं यावत् न विमोक्षे अथ सम्पत्स्ये'–इस उपनिषद् मन्त्र से मुक्ति में संन्यासी या गृहस्थ का उल्लेख नहीं किया गया है। जिनमें भगवद्दर्शन की उत्कट इच्छा होती है वे मुक्ति प्राप्त करते हैं। कठोपनिषद् के निम्नलिखित मन्त्र में भी यही भाव प्रकट होता है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः
तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम्।। (कठोपनिषद्)

भगवान् न उनको मिलते हैं, जो शास्त्रों को पढ़-सुनकर लच्छेदार भाषा में परमात्म-तत्त्व का नाना प्रकार से वर्णन करते हैं, न उन तर्कशील बुद्धिमान मनुष्यों को ही मिलते हैं। जो बुद्धि के अभिमान में प्रमत्त हुए तर्क के द्वारा उन्हें समझने की चेष्टा करते हैं, जो परमात्मा के सम्बन्ध में बहुत सुनते रहते हैं, उन्हें भी भगवान नहीं मिलते हैं। परमात्मा उसी को प्राप्त होते हैं जिसको उनके लिए उत्कट इच्छा होती है जो उनके विना रह नहीं सकते। जो अपनी बुद्धि या साधन पर भरोसा न करके केवल उनकी कृपा की ही प्रतीक्षा करता रहता है, ऐसे कृपा निर्भर साधक पर परमात्मा कृपा करते हैं और योगमाया का परदा हटाकर उसके सामने अपना स्वरूप प्रकट कर देते हैं।

श्रीस्वामी रामानुजाचार्य जी महाराज श्रीवैष्णव धर्म प्रचार के लिए ७४ पीठों की स्थापना किये थे। उसी काम के लिए श्रीवरवरमुनि स्वामी ने अष्टगद्दी की स्थापना की थी। उनमें गादिपतियों के रूप में तीन संन्यासी और पाञ्च गृहस्थ आचार्य हुए थे। जिन्हें संसार के भोग से वैराग्य और भगवान् के चरणकमल में अनुराग होता है उनका गृह ही तपोवन हो जाता है।

निवृत्तरागस्य गृहं तपोवनम्।

विना वैराग्य के केवल संन्यासी का वेष धारण करके अरण्य में वास करने से कोई लाभ नहीं है। वैराग्ययुक्त गृहस्थ के लिए अपना घर ही तपोवन के समान है।

कालिदास ने अपने विरचित रघुवंश महाकाव्य में रघु-कौत्स संवाद में गृहस्थाश्रम को 'सर्वोपकारक्षम्' कहा है। अर्थात् गृहस्थ ही ब्रह्मचारी संन्यासी आदियों की सेवा करता है। दूसरे आश्रम वाले गृहस्थ की मदद से अपने अपने धर्म का यथोचित अनुष्ठान करते हैं। अतः गृहस्थ आश्रम सबका उपकार करने वाला है।

मनुस्मृति में कहा गया है कि जैसे समस्त प्राणी माता के आश्रय से जीवित रहते हैं वैसे ही दूसरे सभी आश्रम वाले गृहस्थ के आश्रित होते हैं। अतः सभी आश्रमों में गृहस्थाश्रम श्रेष्ठ माना गया है। गृहस्थाश्रम के आचार्य भी उपदेश द्वारा मोक्ष के पात्र बनाते हैं। स्वयं भी मुक्त होते हैं। अतः संन्यासियों की ही मुक्ति होती है यह कथन गलत है।

आचार्य परम्परा के सङ्गीतमय डी.वी.डी. विडियो कैसेट का लोकार्पण

श्रीबालाजी वेङ्कटेश्वर धाम मेहन्दिया में श्रीवेङ्कटेश भगवान की प्रतिष्ठा महायज्ञ के अवसर पर अपर्णा म्यूजिक के सौजन्य से श्री चन्दन शर्मा द्वारा निर्मित सङ्गीतमय डी०वी०डी० विडियो कैसेट का श्रीभगवान के चरणों में (श्री चन्दन शर्मा द्वारा) समर्पण हजारो भक्तों के समक्ष किया गया। इस कैसेट में भगवान एवं भागवत (आचार्य) की पूजन-अर्चन, ध्यान एवं स्तुति का आधुनिक तकनीक द्वारा सङ्गीतमय प्रस्तुति का सजीव चित्रण किया गया है। यह कार्य सामाजिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अभी तक श्रीवैष्णवों के बीच सजीव-चित्रण का सर्वथा अभाव था। अत एव सङ्गीत, चित्र के माध्यम से भक्तगणों को आध्यात्मिक लाभ लेने में सुविधा होगी।